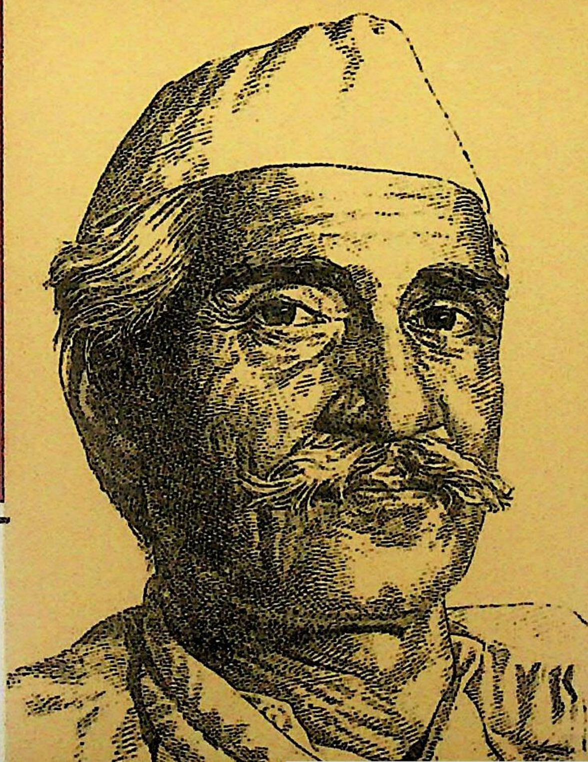
राष्ट्रीय जीवनचरित

आचार्य नरेंद्रदेव

सत्यप्रकाश मित्तल



आचार्य नरेंद्रदेव

राष्ट्रीय जीवनचरित

आचार्य नरेंद्रदेव

लेखक

सत्यप्रकाश मित्तल



नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

ISBN 81-237-3582-0

पहला संस्करण : 2001 (शक *1923*)

AACHARYA NARENDRADEV (*Hindi*)

रु. 40.00

निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ए-5 ग्रीन पार्क,
नयी दिल्ली - 110 016 द्वारा प्रकाशित

विषय-सूची

प्रस्तावना

जीवनी-लेखन एक कठिन और दुःसाध्य कार्य है। इसके लिए धैर्य और खोजी वृत्ति अपेक्षित है। मुझमें यह दोनों ही अल्प मात्रा में हैं। फिर भी मैंने नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया का निमंत्रण स्वीकार कर अपनी क्षमतानुसार प्रयत्न किया है।

यह जीवनी विशेषकर युवा वर्ग को दृष्टि में रखकर लिखी गई है। निस्संदेह आचार्य नरेंद्रदेव जी का जीवन ऐसा है जिससे भारत की वर्तमान और भावी पीढ़ियां प्रेरित होकर अपना ही नहीं भारत का भी उद्धार कर सकती हैं। उनकी विचार-संपदा कालजयी है जो दीर्घकाल तक प्रकाश देती रहेगी। इसे ध्यान में रखकर उनके शिक्षक और वैचारिक रूप को संक्षेप में प्रस्तुत करने की कोशिश की गई है।

मेरी रुचि साहित्यिक नहीं है। अतः बहुत हिचकिचाते हुए मैंने इस भार को स्वीकार किया था। बहुत पहले 1973-74 में बाबू गंगाशरण सिंह ने भी आचार्य जी की एक ऐसी लघु जीवनी लिखने को मुझे प्रेरित किया था। मैंने तत्काल तो यह दायित्व स्वीकार कर लिया था, किंतु बाद में मुझे लगा कि यह कार्य कोई साहित्यिक व्यक्ति ही अच्छी तरह कर सकता है। मैंने अपने मित्र श्री श्यामाप्रसाद प्रदीप से इस बारे में बात की। मैंने उनसे कहा कि यदि आप समय निकालकर यह काम करें तो एक अच्छा कार्य सुंदर ढंग से हो सकेगा। वह तैयार हो गए। परंतु बाद में वह समय न निकाल सके और योजना बनने के पहले ही समाप्त हो गई।

इस कार्य में कई मित्रों ने मेरी सहायता की है। जवाहरलाल नेहरू संग्रहालय एवं पुस्तकालय के उपनिदेशक डा. हरिदेव शर्मा का मैं विशेष रूप से आभारी हूं। आचार्य नरेंद्रदेवजी के जीवन, लेखन और विचार संबंधी कई सूचनाएं उनके माध्यम से प्राप्त हुई हैं। जब भी मैंने उन्हें पुकारा, तत्परता से उन्होंने मेरी सहायता की। नरेंद्रदेवजी के ज्येष्ठ पुत्र श्री अशोकनाथ वर्मा ने भी मेरी भरसक सहायता की। आचार्यजी के निजी सचिव श्री अजय कुमार ने और प्रिय मित्र प्रो. वी.के. राय ने कई अध्याय पढ़कर अपने मूल्यवान सुझाव दिए। श्री रामप्रवेश शास्त्री और श्री रवींद्रनाथ कुशवाहा ने पांडुलिपि को आद्योपांत पढ़ने का कष्ट किया और अपने मूल्यवान सुझावों से लाभान्वित किया। काशी विद्यापीठ के समाजकार्य संकाय के

पूर्व अध्यक्ष प्रो. चंद्रप्रकाश गोयल ने कृपा कर कई अध्याय देखकर अपने मूल्यवान सुझावों से लाभान्वित किया। प्रो. मुकुट बिहारी लाल ने आचार्य नरेंद्रदेव की एक वृहत जीवनी लिखी है उससे लेखक को अनेक सूचनाएं प्राप्त हुई हैं। वह मेरे गुरुतुल्य थे।

मैं नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया के अधिकारियों के प्रति आभार प्रकट करना अपना कर्तव्य समझता हूं। विशेषकर मैं उसकी संपादिका श्रीमती उमा बंसल का आभारी हूं। वह यदि निरंतर उत्साहित न करती रहतीं और धैर्य से काम न लेतीं तो टूटे-फूटे स्वास्थ्य की दशा में यह कार्य करना कदापि संभव न होता।

— सत्यप्रकाश मित्तल

वाराणसी

30.10.1997

1. एक ऊंचा इंसान

बीसवीं सदी में भारत के स्वतंत्रता संघर्ष ने जिन कुछ अविस्मरणीय विभूतियों को जन्म दिया था उनमें आचार्य नरेंद्रदेव का विशिष्ट स्थान है। उनका व्यक्तित्व विलक्षण था। उर्दू के किसी कवि ने कहा है कि 'वतन में एक दिल होता मगर दर्द आशना होता'। नरेंद्रदेवजी इस कसौटी पर खरे उतरते हैं। कबीरदास का मत है, 'शीलवान सबसे बड़ा सब रत्नों की खान'। नरेंद्रदेव शील के प्रतिमान थे। उनका हृदय मानवीय पीड़ा को जिस सूक्ष्मता से पकड़ता था उसने उन्हें करुणामय बना दिया था। राजनीति में शीलवान होना एक अवगुण माना जाता है, पर डा. राजेंद्र प्रसाद की भांति वह ऐसे ही थे। संत विनोवा ने उन्हें "निर्वैर पुरुष" बताया था। 1929 में पहला वैयक्तिक संपर्क होने पर गांधीजी ने उनका उल्लेख 'नररत्न' कहकर किया था। गांधीजी ने कम से कम दो बार उन्हें कांग्रेस का अध्यक्ष बनाने का प्रस्ताव किया था, यद्यपि नरेंद्रदेवजी स्वयं इस पद के प्रत्याशी न थे। श्रीप्रकाश जी बताते हैं कि "पंडित जवाहरलाल नेहरू नरेंद्रदेवजी के ज्ञान के बारे में इतने आश्वस्त थे कि वह अक्सर उनसे अपनी पांडुलिपि देखने, उसमें सुधार करने और सुझाव देने को कहते थे।[1] जवाहरलाल जी ने उनके मरने का समाचार पाकर कहा था कि :

"उनके स्वास्थ्य ने उनका साथ नहीं दिया, अन्यथा वह विलक्षण प्रतिभा के पुरुष थे – अनेक बातों में विलक्षण – विलक्षण आत्मा, विलक्षण मानस, विलक्षण मेधा और विलक्षण सत्यनिष्ठा।"

रूढ़ अर्थ में न तो वह योगी थे और न ही धर्मात्मा। वह किसी विशिष्ट धर्म के अनुयायी भी न थे। फिर भी वह एक महान और शुद्ध आत्मा वाले मानव थे। देश की पराधीनता उन्हें स्वतंत्रता के संघर्ष में खींच लाई और दरिद्रों की दरिद्रता ने उन्हें समाजवादी बना दिया। जब समाजवाद की ओर आकृष्ट हुए तो मार्क्स की ऐतिहासिक विकासवाद और सामाजिक परिवर्तन की आर्थिक व्याख्या ने उन्हें सबसे अधिक प्रभावित किया। उन्होंने मार्क्सवाद की लेनिनवादी व्याख्या को भी स्वीकार किया। इस पर भी वह राष्ट्रवादी और देशभक्त थे। मार्क्सी समाजवाद के लिए जो

---

1. *आचार्य नरेंद्रदेव : बर्थ सेंटेनरी वाल्यूम*, रेडिएंट पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 1990, पृ. 36.

राष्ट्रवाद त्याज्य था, उसे उन्होंने भारत जैसे पराधीन देश के लिए अनिवार्य बना दिया था। स्वतंत्र भारत में भी उन्होंने राष्ट्रीयता को रचनात्मक शक्ति के रूप में देखा और पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में भी लोकतांत्रिक प्रणाली को पोषित करने का उद्घोष किया।

अध्यापक के रूप में वह उच्च कोटि के निष्ठावान अध्यापक थे और शिक्षाविदों में महान शिक्षाविद्। काशी विद्यापीठ द्वारा उच्च कोटि के चरित्रवान एवं कर्मठ देशभक्त पैदा करने का मुख्य श्रेय उन्हीं को है। मुख्यतया उनके चरित्र और शील की छाया में ही ऐसे योग्य कार्यकर्ता तैयार हुए थे। उन्हें देश के बड़े से बड़े लोगों का आदर और विश्वास प्राप्त था। देश की स्वतंत्रता के बाद यदि वह कांग्रेस में बने रहते तो शासन में उन्हें ऊंचे से ऊंचा पद मिल सकता था। परंतु अपनी कर्तव्यनिष्ठा से प्रेरित हो उन्होंने अपना मुख्य कार्यक्षेत्र शिक्षा को बनाया।

समाजवाद की राह पर

लेनिन और मार्क्स दोनों ने उन्हें प्रभावित किया था। अंत तक वह अपने को मार्क्सवादी कहते थे। पर क्या वह मात्र मार्क्सवादी ही बनकर रह गए थे? नहीं, ऐसी बात नहीं थी। उन्होंने मार्क्सवाद को सामाजिक परिवर्तन और विकास की एक वैज्ञानिक पद्धति के रूप में स्वीकार किया था और पद्धति एवं निष्पत्ति दोनों में परिवर्तन की संभावना को खुला रखा था। वह मतवादी कट्टरता के घोर विरोधी थे। यही कारण है कि वह वर्गसंघर्ष को लोकतांत्रिक और संवैधानिक रूप दे सके। इतना ही नहीं, उन्होंने भारत में लोकतंत्र को दृढ़ करने और उसकी उच्चतम मर्यादाओं का पालन करने का दायित्व सत्ता पक्ष से अधिक विरोध पक्ष का माना। उन्होंने स्वयं अपना और अपने साथियों का उदाहरण प्रस्तुत कर लोकतंत्र की उच्चतम मर्यादा की स्थापना की। उन्होंने समाजवादी समाज की रचना में सांस्कृतिक विशिष्टता और नैतिक उदारता के महत्व को न केवल प्रतिपादित किया बल्कि घोषित किया कि "जब तक मजदूर वर्ग (श्रमिक जनता) उस संस्कृति को आत्मसात नहीं कर लेता जिसकी सृष्टि मध्यम वर्ग ने की है और उसकी कमियों को दूर कर विश्वकुटुंब के आधार पर नए समाज का संगठन नहीं करता तब तक समाजवाद की स्थापना संभव नहीं है।"[1]

गांधी और नरेंद्रदेव – मत और मतभेद

स्वतंत्रता आंदोलन में ऐसे लोग बहुत कम थे जिन्होंने स्वतंत्र भारत की समस्याओं पर गहराई से विचार करने की कोशिश की। नरेंद्रदेवजी का उन लोगों में अद्वितीय स्थान है। भारत के पुनर्निर्माण के साधनों और मार्ग के बारे में उनका चिंतन महात्मा

---

1. *साहित्य, शिक्षा एवं संस्कृति* में 'समाजवाद का सांस्कृतिक स्वरूप' आचार्य नरेंद्रदेव, संपा. - रमेश तिवारी एवं कृष्णनाथ, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 1988.

गांधी की अपेक्षा जवाहरलाल नेहरू से अधिक मेल खाता है। महात्मा गांधी आधुनिक उद्योगों को मानवता के लिए अहितकारी मानते थे और कृषि एवं ग्रामोद्योगों के आधार वाली ग्रामीण संस्कृति के समर्थक थे। नरेंद्रदेव औद्योगिक सभ्यता के समर्थक थे और उसमें दोष की अपेक्षा गुणों को अधिक देखते थे। वह औद्योगिक सभ्यता के दोषों को स्वीकार करते थे, पर उन्हें विश्वास था कि पूंजीवादी स्वामित्व एवं पूंजीवादी वितरण व्यवस्था के स्थान पर सामाजिक स्वामित्व और नियोजन द्वारा उनके अनेक विकार दूर किए जा सकते हैं। इस बुनियादी विरोध के रहते हुए भी वह गांधीजी के गतिमान व्यक्तित्व से ही नहीं उनके अनेक नैतिक विचारों से भी प्रभावित हुए थे। यह गांधीजी का ही प्रभाव था कि उन्होंने वर्ग संघर्ष और सामाजिक क्रांति के लिए नैतिकता को आवश्यक बताया। उन्होंने गांधीजी द्वारा प्रतिपादित साधन की शुद्धता को सामाजिक परिवर्तन और प्रक्रिया में स्वीकार कर उसे समाजवाद की नीति का अंग बनाया। अन्य मार्क्सवादियों के विपरीत उन्होंने लोकतांत्रिक प्रणाली की स्थिति में हिंसक साधनों का विरोध किया। गांधीजी की भांति नरेंद्रदेवजी ने भी व्यक्ति और उसकी स्वतंत्रता को मुख्य माना है। धर्म को लेकर गांधीजी और नरेंद्रदेवजी की दृष्टियों में मौलिक अंतर था। गांधीजी धर्मों की रचनात्मक भूमिका को मानते थे। इसके विपरीत नरेंद्रदेवजी धर्म को आधुनिक युग में प्रगति और परिवर्तन का रोधक तत्व मानते थे। उनका विचार था कि धर्म में बुद्धिविरोधी रूढ़ियों और अंधविश्वासों की भरमार है और उसके द्वारा प्रस्तुत नैतिकता प्रभु वर्ग के पक्षधर सामंती युग की है। गांधीजी सभी धर्मों में नैतिकता के गुण देखते थे और उन्हें आशा थी कि धर्मगत नैतिकता का उपयोग सर्वोदय समाज की रचना में हो सकता है। जो भी हो, गांधीजी की नैतिकता भी सामाजिक ही थी और समाज के लिए अर्पित थी।

गांधीजी भी नरेंद्रदेव के विचारों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहे। विशेषकर 1942 में जब नरेंद्रदेवजी प्राकृतिक उपचार के लिए गांधीजी के सेवाग्राम आश्रम में लगभग चार महीने ठहरे तब उन्हें गांधीजी से विचार-विनिमय और आदान-प्रदान का विशेष अवसर मिला। गांधीजी ने बड़े उद्योगों की आवश्यकता को स्वीकार किया और उसे पूंजीपतियों के हाथ में न रखकर राज्य के अधिकार में रखने का समर्थन किया। पहले वह जमींदारी उन्मूलन के विरोधी थे लेकिन 1942 में उन्होंने उसके उन्मूलन का समर्थन किया। पर उन्होंने ग्रामीण संस्कृति संबंधी अपने विचारों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया। आचार्यजी ग्रामीण संस्कृति के समर्थक न थे। उनका मत था कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था को नई तकनीक, सहकारिता और सीमित स्वायत्तता की आवश्यकता है। खादी और ग्रामीण उद्योगों वाली अर्थव्यवस्था के वह समर्थक न थे।

व्यक्तित्व

नरेंद्रदेवजी मध्यम कद, इकहरे शरीर और क्षीण काया वाले व्यक्ति थे। नाक के नीचे लंबी मूंछें, लंबे से गोरे गेहुंए चेहरे पर चेचक के अवशिष्ट अवशेष हल्के चिह्न, खादी का स्वच्छ किंतु सादगी से पहना हुआ कुर्ता तथा पाजामा और सिर पर गांधी टोपी, कभी कभी जवाहर जैकट भी। सर्दी में शेरवानी, दूर से देखने पर देहात के बुजुर्ग बाबू जान पड़ते थे। उनसे बातचीत करने पर भी आगंतुक को उनके बड़प्पन या विद्वता का भान नहीं होता था, क्योंकि वह देर तक उसकी बात भोलेपन के साथ उत्सुकता से सुनते रहते थे।

पर अपनी मित्र-मंडली, आंतरिक सभा में वह न तो इतने संकोची थे और न इतने भोले। उसमें सदा हास-परिहास चलता था। उनके मित्रों और प्रेमियों में कुछ ऐसे लोग भी थे जिनसे वह सदा हास-परिहास में ही बात करते थे और वे कोई साधारण लोग नहीं थे, बल्कि राजनीति और साहित्य के क्षेत्र में ऊंचा स्थान रखते थे। उदाहरण के रूप में सेठ दामोदर स्वरूप और बनारसीदास चतुर्वेदी ऐसे ही मित्रों में थे। वह अपने मित्रों पर ही नहीं अपने ऊपर भी हंसने की कला में दक्ष थे। कमाल यह था कि उनके परिहास में कहीं भद्दापन या अश्लीलता नहीं आ पाती थी। तिस पर भी वह अपने सामाजिक कर्तव्य के प्रति बहुत सावधान थे और अपनी निकटता के कारण कोई उनसे पक्षपात की आशा नहीं कर सकता था।

सामाजिक कर्तव्य में वह जितने सावधान थे, निजी जीवन में उतने ही असावधान। अपने स्वास्थ्य की चिंता वह बहुत कम करते थे। खान-पान में आवश्यक नियंत्रण नहीं रखते थे। चटपटे व्यंजनों की ओर वह सहज ही आकृष्ट हो जाते थे, अवसर मिलते ही वह संयम को भूल जाते थे। प्रायः 24-25 वर्ष की अवस्था से ही वह श्वास के आजीवन रोगी हो गए थे। कई व्यंजन उनके स्वास्थ्य के लिए हानिकर थे। अपने कपड़ों के प्रति भी वह इतने ही असावधान थे। उनकी अतिदानशीलता का ताप जितना उन्हें भुगतना पड़ता था उससे कहीं अधिक उनकी पत्नी और बच्चों को भुगतना पड़ा। घर से संपन्न होते हुए भी अपनी अति दानशीलता के कारण उन्हें अक्सर अभाव में रहना पड़ा। वस्तुतया अपनी पैतृक संपत्ति से प्राप्त आय के प्रति वह उदासीन थे। जब वह लखनऊ और वाराणसी के विश्वविद्यालयों के कुलपति थे तब भी अपने और अपने परिवार के लिए बहुत कम ही खर्च कर पाते थे। काशी हिंदू विश्वविद्यालय के कुलपति की पत्नी गंगा स्नान को या तो पैदल जाती थीं या फिर रिक्शा से। जब वह लखनऊ में कुलपति थे तब की एक घटना है – वह अपने वेतन का 40 प्रतिशत छात्र कल्याण निधि में देते थे। इसके अतिरिक्त भी बहुत लोगों की सहायता करते थे। भविष्य और विपत्ति के लिए बचाना उनके स्वभाव में न था। लखनऊ विश्वविद्यालय में जब कई वर्ष का आयकर देय हो गया और

उसके स्थान पर पूरा वेतन देने की नौबत आई तो वह उसका भुगतान अपने पूर्वजों की एक कलाकृति को बेचकर ही कर सके। अपनी निजी दुर्वलता की चर्चा वह आकाशवाणी से कर सकते थे। अपनी एक रेडियो वार्ता में वह कहते हैं :

"आरंभ में मेरा स्वास्थ्य अच्छा था। लोग कहते हैं कि मैं इतना दुवला नहीं था जितना कि अब हूं। लेकिन मुझमें एक बड़ा दोष यह था कि मैं मितभोजी नहीं था, बड़ा चटोरा था। मिठाई और फल का बड़ा शौक था। उसे बड़ी मात्रा में खाता था। मुझे याद है कि एक बार शर्त लगा कर मैंने सवा सेर मलाई की बरफी खाई थी। चटोरेपन् की वजह से एक बार पिताजी के हाथ से मार भी खानी पड़ी थी। डांट तो उनकी कई बार खाई होगी, किंतु एक बार से अधिक मार मुझे नहीं पड़ी। मैं खाना भी बहुत तेज खाता था। यह साधारण-सी बात कि खाना चवाकर खाना चाहिए मैं आज भी नहीं सीख पाया हूं। यदि धीरे धीरे खाऊं तो भोजन में कोई स्वाद ही नहीं मालूम पड़ता। बड़े और अपने साथी सभी मुझे टोकते रहे हैं, किंतु बुरा अभ्यास नहीं छूटता। इससे मेरा स्वास्थ्य विगड़ने लगा और धीरे धीरे मुझे खांसी और दमे की शिकायत हो गई। शरीर संपत्ति अच्छी थी, किंतु अपनी लापरवाही की वजह से मैंने उसे खो दिया।"[1]

समझदारों के लिए वह महापंडित थे। ऐसे लोगों की सभाओं में उनका पांडित्य, उनकी विश्लेषणी-अन्वेषणी बुद्धि की चमक का दिग्दर्शन होता था। राजनीति का क्षेत्र होड़ और प्रतिद्वंद्विता का अखाड़ा है। जब कोई राजनीतिक दल सत्ता के निकट पहुंच जाता है तो पद और सत्ता के लिए संघर्ष अधिक तीव्र हो जाता है। पर आचार्यजी राजनीति में रहते हुए भी पद और सत्ता की होड़ में कभी नहीं उतरे। उनका विरोधी भी उन पर सत्ता या पद के लोभ का आरोप नहीं लगा सकता था। उन पर पक्षपात का आरोप भी नहीं लगाया जा सकता था। यही कारण है कि एक विरोधपक्षीय वामपंथी राजनीतिक पार्टी के बड़े नेता होते हुए भी वह सरकारी पार्टी की इच्छा और पहल पर दो विश्वविद्यालयों के कुलपति बन सके। न तो विद्यार्थियों ने और न ही प्रतिद्वंद्वी राजनीतिक दलों ने कभी उन पर पक्षपात का आरोप लगाया। ऐसा माना जाता है कि, "कालिख की कोठरी में कैसो ही सयानो जाय, एक कीर काजर की लागे पै ही लागे है"। पर नरेंद्रदेवजी निष्कलंक बाहर निकल आए।

योगदान

उन्नीसवीं तथा बीसवीं सदी में एशिया के अधिकांश समाज युग परिवर्तन की उथल पुथल और पीड़ा का अनुभव कर रहे थे। पुराने सामंती समाज के गर्भ से कालपुरुष

---

1. *आचार्य नरेंद्रदेव : ए कमेमोरेशन वाल्यूम,* संपादक, बी.वी. केसकर एवं वी.के.एन. मेनन, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली, 1971, पृ. 320-21.

औद्योगिक युग को जन्म देने के लिए व्याकुल था। पर भारत जैसे अनेक देशों में साम्राज्यशाही इसकी भ्रूण हत्या करने में लगी थी। उसी अवधि में 1919 के बाद महात्मा गांधी के नेतृत्व में साम्राज्यशाही के विरुद्ध भारत की स्वतंत्रता का अहिंसात्मक संघर्ष चला। पर गांधीजी औद्योगिक सभ्यता के विरोधी और ग्रामीण सभ्यता के पक्षधर थे। किंतु गांधीजी के नेतृत्व के बिना उस समय कोई बड़ा आंदोलन स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए नहीं हो सकता था। उस समय नरेंद्रदेवजी और जयप्रकाश नारायण आदि ने स्वतंत्रता संघर्ष में गांधीजी के नेतृत्व को स्वीकार करते हुए भी उद्योगवाद और समाजवाद के समर्थक लोगों का नेतृत्व किया। यदि ये लोग समाजवादी दल बनाकर आजादी के संघर्ष में भाग न लेते तो समाजवादी धारा का प्रतिनिधित्व कम्युनिस्ट पार्टी करती जो उस समय न केवल स्वतंत्रता संघर्ष में कांग्रेस का विरोध कर रही थी बल्कि स्तालिन और अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट संघ का नेतृत्व स्वीकार कर सर्वसत्तावादी भी हो गई थी। उस समय आचार्य नरेंद्रदेव ने समाजवादी तत्वों को बौद्धिक नेतृत्व प्रदान किया और कम्युनिस्टों के प्रभाव को उन्हीं के सिद्धांत के आधार पर क्षीण करने का बड़ा काम किया। इसके अतिरिक्त किसानों और श्रमिकों को वर्गीय आधार पर संगठित कर समाजवादियों ने कुछ अन्य सहयोगी लोगों से मिलकर राष्ट्रीय संघर्ष के जनाधार को व्यापक बनाया। यदि समाजवादी पार्टी न होती तो स्वतंत्रता के बाद टिकाऊ लोकतंत्र की स्थापना संभव न होती, क्योंकि उस समय कोई प्रभावकारी लोकतांत्रिक दल न रह जाता। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद समाजवादियों ने सांप्रदायिक फासिस्ट शक्तियों से संघर्ष करने में शासन का साथ दिया और लोकतंत्र की मर्यादाओं की स्थापना के लिए रचनात्मक विरोध पक्ष की भूमिका का संकल्प लिया।

रूढ़िगत भारतीय समाज और रूढ़िगत चिंतन की पृष्ठभूमि में समाजवादी पौधे को कैसे रोपा और सींचा जाए यह काम नरेंद्रदेव जैसा व्यक्ति ही कर सकता था, जो न केवल यूरोप की प्राचीन एवं अर्वाचीन विचारधाराओं, दर्शन और इतिहास से सुपरिचित था बल्कि भारतीय धर्म, दर्शन और परंपराओं का गहरा ज्ञान रखता था। इस संबंध में अच्युत पटवर्धन का मत उल्लेखनीय है :

"जयप्रकाश और लोहिया दोनों ने भारत के राजनीतिक आंदोलनों में प्रवेश के पहले ही मार्क्सवाद का अध्ययन कर लिया था। लेकिन उनमें से किसी की भी भारत की दार्शनिक विचार-प्रणाली में गहरी एवं व्यापक पैठ न थी। उनमें इस देश की सामाजिक-आर्थिक शक्तियों के सह-संबंधों की विश्लेषणात्मक समझ भी कम थी। अतः नरेंद्रदेव ने स्वतंत्रतापूर्वक भारत की समस्याओं और मौलिक आर्थिक परिवर्तन की बाधाओं की अधिक सार्थक समझ पैदा की। उनके प्रतिभाशाली राजनीतिक नेतृत्व की एक उल्लेखनीय बात यह है कि उन्हें परिवर्तन की प्रक्रिया में विद्यमान विभिन्न

वर्गीय शक्तियों की क्रिया-प्रतिक्रिया की सहज समझ प्राप्त थी। वह ग्रामीण और नगरीय अंचलों में बहुरूपों में क्रियमाण जातीय शक्तियों को पहचानते थे।"[1]

उनकी गहरी राजनीतिक समझ का उल्लेख करते हुए इसी पुस्तक में तत्कालीन रक्षा मंत्री (1978) जगजीवन राम कहते हैं : "स्वतंत्रता के बाद आचार्य नरेंद्रदेव ने किसी ऊंचे राजनीतिक पद की बजाय बौद्धिक कार्यों को चुना। तिस पर भी स्वतंत्रता के उस प्रारंभिक काल में राज की नौका के संचालन में सरकार उनसे परामर्श और मार्गदर्शन प्राप्त करने की अपेक्षा करती थी। कई बार पंडित नेहरू भी परामर्श के लिए उनके पास जाते थे और वह उन्हें सद्‌भावपूर्वक मिलता था।"

शिक्षा के क्षेत्र में भी उन्होंने सरकार को पूरा सक्रिय सहयोग दिया। 1938 तथा 1951 में नियुक्त उत्तर प्रदेश की प्राथमिक कक्षा से विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षा सुधार समितियों तथा मूल्यांकन समितियों की अध्यक्षता की। इसके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश सरकार के निवेदन पर लिपि सुधार समिति और संस्कृत सुधार समिति की अध्यक्षता का भार ग्रहण किया। दो विश्वविद्यालयों के कुलपति बनने का उल्लेख पीछे हो चुका है।

शिक्षा, साहित्य और संस्कृति के वह न केवल विद्वान थे, बल्कि इन क्षेत्रों के सक्रियकर्मी और नेता भी थे। उनके कारण संस्कृति और धर्म का वैज्ञानिक विश्लेषण करने की ओर विद्वत जगत का ध्यान गया। जब वह लखनऊ में कुलपति थे तब उन्होंने देश के मूर्धन्य विद्वानों को आमंत्रित कर भारतीय संस्कृति पर भाषण-माला का विशेष आयोजन किया। उस काल में उन्होंने स्वयं भी एशिया के इतिहास और बौद्ध दर्शन पर अनेक भाषण दिए। 1948 में उन्होंने नवसंस्कृति संघ की स्थापना की। उन्होंने अपने लेखन द्वारा संस्कृति की परिवर्तनशीलता पर बल दिया और धर्म को संस्कृति से अलग देखने का आग्रह किया। उन्होंने भारतीय संस्कृति के शाश्वत तथा परिवर्तनशील मूल्यों को अलग अलग करने पर भी बल दिया और भारतीय संस्कृति की विशिष्टता का द्योतक बताते हुए 'भारतीय धर्म' का प्रत्यय प्रस्तुत किया।[2] उन्होंने प्रतिपादित किया कि हिंदू धर्म की समीक्षा-विश्लेषण वैज्ञानिक पद्धति से करने

---

1. *ए कमेमोरेशन वाल्यूम : आचार्य नरेंद्रदेव,* में अच्युत पटवर्धन का लेख – 'द मैन दैट ब्लेज्ड दि ट्रेल', सेंटर फार एप्लाइड पालिटिक्स, नई दिल्ली 1978, पृ. 6-7.
2. *आचार्य नरेंद्रदेव : व्यक्ति और प्रमुख विचार,* में संकलित आचार्य नरेंद्रदेव का लेख 'भारतीय धर्म', संपादक – अजय कुमार, आचार्य नरेंद्रदेव समाजवादी संस्थान, वाराणसी, 1989, पृ. 107-112. 'जनवाणी' मासिक वाराणसी, (मई, 1950) में यह लेख 'विविधता में एकता' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। परंतु अपनी रेडियो वार्ता में उन्होंने इसे 'भारतीय धर्म' शीर्षक में दिया था। यही लेख *साहित्य, शिक्षा एवं संस्कृति* (प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 1988) में भी संकलित है।

की आवश्यकता है। एक सच्चे क्रांतिकारी के रूप में वह भारतीय समाज की गतिरोधक और गतिपोषक शक्तियों और उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया को समझना चाहते थे ताकि परिवर्तन और विकास की प्रक्रिया में उनका उपयोग किया जा सके। वह व्यक्तिगत सत्ता के उपासक न थे, बल्कि उस उपाय की खोज में थे जिसके द्वारा मनुष्य की बौद्धिक और भौतिक संपदा को मनुष्य जाति के हित में नियोजित किया जा सकता है। उनकी राजनीतिक सक्रियता के पीछे यही प्रेरणा काम करती थी। उन्हें यह वौद्धिक विश्वास हो गया था कि संसार उत्तरोत्तर उन्नति की ओर अग्रसर है। ऐसी दशा में मनुष्य जाति के सामने मूल प्रश्न यह है कि सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन के नियमों की सटीक जानकारी कर उसका उपयोग जनहित में कैसे किया जाए। वह स्पष्ट देख रहे थे कि मनुष्य की इस यात्रा में कल-कारखानों के उत्पादन की प्रचुरता के कारण संसार से दरिद्रता, रोग और अविद्या को दूर करना आवश्यक हो गया है और मनुष्य जाति-युद्ध एवं मार-काट को छोड़ सुख एवं शांति के सहयोगी समाज की ओर बढ़ रहा है। उनके जीवनकाल में यह काम पूरा नहीं हुआ, लेकिन उनकी दूरदृष्टि उसे देख रही थी। वह संसार को उस ओर बढ़ता देख रहे थे। उनकी एक चिंता यह अवश्य थी कि भारत का उसमें क्या योगदान और स्थान होगा।

2. वह युग : पराधीन भारत

संसार की चुनौतियां उन्नीसवीं सदी में नया रूप लेकर आई थीं। देखते देखते हिंदुस्तान जैसा विशाल देश दूर समुंदर पार के एक छोटे-से देश ब्रिटेन के अधीन हो गया। ब्रिटेन की ईस्ट इंडिया कंपनी एक व्यापारिक संगठन थी। दो सौ वर्ष के अंतराल में उसकी सैनिक शक्ति इतनी बढ़ गई कि उसने भारत के सब राजाओं और नवाबों को हराकर पूरे भारत को अपने अधीन कर लिया।

वैज्ञानिक क्रांति

पंद्रहवीं शताब्दी से ही एक बुनियादी क्रांति यूरोप में शुरू हो गई थी। जवान होते होते इसने यूरोप के छोटे छोटे देशों को इतना शक्तिशाली बना दिया कि उन्होंने एशिया, अफ्रीका और अमरीका के बड़े बड़े देशों को अपने अधीन कर लिया। पुर्तगाल, हालैंड, ब्रिटेन, फ्रांस और स्पेन जैसे छोटे देशों के सामने एशिया और अफ्रीका के बड़े बड़े देश बौने हो गए। इस शक्ति का स्रोत नए विज्ञान में था। विज्ञान की सहायता से प्रकृति के रहस्यों की खोज का काम शुरू हुआ तो नई तकनीकी विद्या सौरशक्ति चालित नए उद्योगों का जन्म हुआ। भाप और बिजली से चालित इन उद्योगों के सामने पुराने उद्योग बैठने लगे। स्वचालित और शक्तिचालित हथियारों के सामने परंपरागत हथियार काम नहीं दे सकते थे। संयोगवश यूरोप के ये देश व्यापार की होड़ में एक-दूसरे के शत्रु बन गए थे, और इनके हथियार तथा सैन्य संचालन के तरीके एशिया तथा अफ्रीका के शासकों को भी उपलब्ध हो रहे थे। पर यूरोप में उद्भूत विज्ञान और तकनीकी को सीखने में एशिया, अफ्रीका और दक्षिण अमरीका के देशों ने तत्परता नहीं दिखाई। जापान ही इसमें अपवाद था। ऐसी हालत में यहां के देशों को पिछड़ना और पराधीन हो जाना ही था।

यूरोप की गोरी जातियों की बढ़ी हुई शक्ति और नई सभ्यता की चकाचौंध के सामने सबकी बुद्धि हतप्रभ थी। एक उपाय यह था कि नए विज्ञान को ग्रहण और स्वीकार कर अपनी शक्ति बढ़ाई जाए। पर उस समय के शासक वर्ग तथा विद्वत वर्ग ने नवीन विज्ञान को अंगीकार करने में रुचि नहीं ली। विज्ञान और तकनीकी विद्या की उपेक्षा उस समय के लोगों ने क्यों की, यह आज भी रहस्य ही है। शायद

यह नवीनता और नई खोज को नकारने वाली रूढ़ दृष्टि थी जो धार्मिक आस्थाओं तथा विश्वासों ने उन पीढ़ियों को दी थी। इस दृष्टि में दैविक ज्ञान ही ज्ञान है, और उससे विपरीत जो कुछ है वह मिथ्या एवं अमंगलकारी है। सच्चे और वास्तविक ज्ञान का वही एकमात्र स्रोत माना जाता था। दूसरा तरीका जनविद्रोह का था। पर जनविद्रोह कर सत्ता को बदलने की परंपरा का भारत में न जाने कब से लोप हो चुका था। शासन और शासकों में परिवर्तन उत्तराधिकार से होता था और या फिर आंतरिक षड्यंत्रों द्वारा अथवा बाहरी आक्रांताओं से।

आर्थिक दृष्टि से भी उन्नीसवीं शताब्दी भारत में बहुत उथल-पुथल तथा संकट लेकर आई थी। कुटीर उद्योग और ग्राम उद्योग नष्ट होने लगे तो बेरोजगारी बढ़ने लगी। देश के आंतरिक व्यापार में भी अंग्रेज व्यापारियों का हस्तक्षेप हो गया। निर्धनता और अकाल, रोग और अंधविश्वास, छुआछूत और अशिक्षा की हालत में जनता की दशा बहुत दयनीय हो चली थी। भारत के उद्योगों और व्यापार को तरह-तरह के करों द्वारा पंगु बना दिया जाता था। भारत के बाजारों में ब्रिटेन का माल बिकता था। ब्रिटेन को भारत की रूई, चमड़ा तथा जूट जैसे कच्चे माल की जरूरत थी। यही ब्रिटेन का मुख्य स्वार्थ था। यह काम वह भारत को अधीन कर अधिक सुरक्षा से कर रहा था।

एशिया का जागरण

एकाएक 1904 में जापान ने रूस को हरा दिया। इस एक घटना ने एशिया और अफ्रीका के देशों की परास्त मानसिकता को दूर करने में बहुत मदद की। इसी समय 1905 में ब्रिटेन की सत्ता ने बंगाल को दो हिस्सों में बांट दिया। एक भाग में हिंदुओं की संख्या अधिक थी और दूसरे भाग में मुसलमानों की। इससे बंगाल में विद्रोह की लहर आ गई। इसने भारत की राजनीति और राष्ट्रीय आंदोलन के रंग-ढंग को बदल डाला। विभाजन के विरोध में पूरे बंगाल में व्यापक हड़तालें हुईं और जगह जगह जनता सड़कों पर निकल आई। पूरा बंगाल एक तरह से उफन पड़ा। पर सरकार टस से मस नहीं हुई, और दमन पर उतर आई। विशेषकर शिक्षित युवा वर्ग सशस्त्र विद्रोह की ओर मुड़ा। शुरू में इसने आतंकवादी रूप लिया। उस समय युवकों के अनेक भूमिगत संगठन बने। अंग्रेज अधिकारियों और विदेशी सरकार के वफादार पिट्ठुओं की हत्या की जाने लगी। पुलिस.और सेना के शस्त्रागारों से हथियार लूटने के लिए देशभक्त क्रांतिकारियों के सशस्त्र दल हमला करने लगे पर सरकारी दमन और गुप्तचर विभाग ने मिलकर इन क्रांतिकारियों की प्रहार शक्ति को दो साल में ही क्षीण कर दिया। तो भी, विद्रोह की आग प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से सुलगती रही। बंगभंग के विरोध का दूसरा रूप था स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग, विलायती

वस्तुओं का बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा। राष्ट्रीय कांग्रेस का गरमदल इस आंदोलन का समर्थक था।

हिंदुस्तान पर रूस की आंखें लगी थीं। ब्रिटिश शासन को यह डर सताता रहता था कि यदि रूस का हमला हुआ तो भारत की जनता और भारतीय सेना विद्रोह कर उसका साथ देगी। अतः 1858 के बाद ब्रिटिश साम्राज्यशाही पश्चिमी प्रकार की शिक्षा पाए हिंदुस्तानियों को प्रोत्साहित कर उनका वैधानिक एवं शांतिपूर्ण नेतृत्व खड़ा करना चाहती थी, और हिंदुस्तानियों को धीरे धीरे प्रशासन और शासन में भागीदार बनाना चाहती थी। पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त अधिकांश पढ़ा-लिखा वर्ग भी यही चाहता था। यह वर्ग अधिकांशतया सरकारी नौकरियों में था अथवा उनका इच्छुक था और ऊंची सरकारी नौकरियों में हिंदुस्तानियों के प्रवेश की सरकार से मांग करता था। साथ ही वह शासन में धीरे धीरे हिंदुस्तानियों की अधिकाधिक हिस्सेदारी की मांग करता था। कुछ लोगों को विश्वास था कि कालक्रम में अंग्रेजी सत्ता भारतवासियों को आंतरिक शासन सौंप देगी। वे लोग अंग्रेजी शासन को वरदान मानते थे। उधर पाश्चात्य देशों में लोकतंत्र और पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के साथ साथ राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना हो रही थी। वहां राष्ट्रीय स्वतंत्रता का विचार लोक मानस में समा गया था। राष्ट्रीयता और लोकतंत्र की उद्दाम लहरें उठ रही थीं। अंग्रेजी भाषा का वाङ्मय भी भारत के शिक्षित वर्ग में राष्ट्रीयता, स्वतंत्रता और लोकतंत्र की प्रेरणा का स्रोत बन गया था। वास्तव में अधिक से अधिक क्रांतिकारी साहित्य और विचार इस भाषा में उपलब्ध था। मार्क्स का द्वंद्वात्मक भौतिकवाद जन्म ले चुका था। इस सिद्धांत ने सामाजिक और राजनीतिक क्रांति को अवश्यंभावी बना दिया था। यह सर्वहारा की समाजवादी क्रांति का सिद्धांत था। इसी समय ब्रिटेन में समाजवादी विचारधारा का प्रचार और प्रसार हो रहा था। सन् 1900 में वहां लेबर पार्टी का गठन हुआ। इसकी विचारधारा समाजवादी थी। समाजवाद का सिद्धांत पूंजीवाद और साम्राज्य का विरोधी है। अतः लेबर पार्टी को भारत की आजादी का समर्थक माना जाता था। उसके कुछ वामपंथी नेता तो इस विषय में मुखर भी थे। भारत में समाजवाद और मार्क्सवाद की लहर कुछ देर से बीसवीं शती के तीसरे दशक में आई और 1924 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई। इसके अतिरिक्त पं. जवाहरलाल नेहरू कांग्रेस के मंच से समाजवाद का खुला प्रचार करने लगे। इसके बाद 1934 में कांग्रेस के अंदर 'कांग्रेस सोशलिस्ट' पार्टी का गठन हुआ।

जापान की विजय से एशियावासियों को यह शिक्षा भी मिली कि पश्चिम के रास्ते पर चलकर उसको परास्त किया जा सकता है। पर भारत कैसे स्वतंत्र राष्ट्र

बनेगा, इस सवाल पर मतभेद था। कांग्रेस के अंदर एक बड़ा वर्ग ऐसे लोगों का था जो अंग्रेजी सत्ता से सहयोग कर धीरे धीरे स्वशासन तक पहुंचना चाहता था। जो लोग अंग्रेजों की निष्कपटता तथा संकल्पशुद्धता पर विश्वास नहीं करते थे वे शुरू में मुखर नहीं थे और अल्पसंख्या में थे। सहयोगवादियों को आगे चलकर नरमदलीय कहा गया। विशेषकर 1905 में बंगभंग के बाद गरमदलीय लोग खुलकर सामने आने लगे। तीसरी धारा सशस्त्र विद्रोह के समर्थकों की थी। उन्हें क्रांतिकारी कहा गया। सहयोग में विश्वास करने वालों ने ही 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की थी।

राष्ट्रीय कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग – पृष्ठभूमि

शुरू से ही अंग्रेजी सत्ता मुसलमानों को शंका की दृष्टि से देखती आई थी। उसकी नीति थी कि मुसलमानों को सेना तथा असैनिक प्रशासन दोनों में कम से कम स्थान दिया जाए। अंग्रेजी सत्ता के प्रति मुस्लिम समुदाय और नेतृत्व की भावना भी अधिक प्रतिकूल थी। अंग्रेजी सत्ता ने उस समय हिंदुओं को अपने साथ रखने की नीति अपनाई थी। जब सरकारी नीति के तहत अंग्रेजी भाषा और आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा सुलभ हुई तो उसमें मध्यमवर्गीय हिंदू अपेक्षाकृत अधिक संख्या में आगे आए। यह ध्यान रखने की बात है कि इसमें विज्ञान की शिक्षा का भी समावेश था। जो लोग शिक्षा लेने विलायत गए वे अक्सर राष्ट्रीयता की भावना लेकर लौटे। नई शिक्षा स्वतंत्रता की भी प्रेरणा देने लगी थी। पाश्चात्य प्रकार की इस नई शिक्षा के तीन प्रमुख क्षेत्र बंगाल, बंबई और मद्रास थे। ये वही क्षेत्र हैं जहां अंग्रेजी राज्य की सबसे पहले स्थापना हुई थी। नए उद्योगों की स्थापना भी सबसे पहले इन्हीं क्षेत्रों में हुई। देश की आजादी और समाज-सुधार के आंदोलन भी प्रायः यहीं से शुरू हुए। इस तरह यूरोप एक ओर यूरोपियों के लिए शोषण और दासता की प्रेरणा का तथा दूसरी ओर भारतीयों के लिए स्वतंत्रता और क्रांति की प्रेरणा का स्रोत बना हुआ था।

वस्तुतया यूरोप में जो औद्योगिक प्रगति हुई थी उसकी उपलब्धियां चकाचौंध करने वाली थीं। लोकतंत्र के साथ मिलकर इसने एक नई सभ्यता को जन्म दिया था। विज्ञान के आलोक ने उन अनेक पुराने अंधविश्वासों, विधि-विधानों और स्वयंसिद्ध सत्यों को उखाड़ फेंका जो धर्मों के आवरण में पल रहे थे। विज्ञान धर्म का प्रतिलोम बन गया। वह लोकोत्तर और परलोकवादी न होकर शुद्ध रूप से लौकिक था और ईश्वरीय ज्ञान न होकर मानवीय प्रतिभा का उत्पाद था। उसका आधार मनुष्य की अंतर्निहित बौद्धिक क्षमता थी। इन विचारों से भारत का बौद्धिक वर्ग प्रभावित और प्रेरित हो रहा था। स्वामी विवेकानंद, ऋषि अरविंद आदि ने यूरोप के नवजागरण,

लोकतंत्र और समाजवादी मूल्यों से प्रभावित होकर ही भारतीय आध्यात्मिक दर्शन के निहितार्थ को नया रंग और अध्यात्म को नया अर्थ दिया था। स्वामी विवेकानंद ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना कर विरक्त संन्यासियों को भी समाजसेवा तथा समाज-सुधार में लगा दिया। अतः चाहे समाज-सुधार का आंदोलन हो या राष्ट्रीय स्वतंत्रता का संग्राम, इनमें पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त और पश्चिम की नई विचारधाराओं से प्रभावित मध्यम वर्ग के लोगों ने ही आगे बढ़कर नेतृत्व किया। वैचारिक स्तर पर नए मूल्यों और नए आदर्शों को आत्मसात कर भारतीय संस्कृति की रक्षा का काम भी इसी वर्ग ने किया। भारत का परंपरागत समाज युगों से छुआछूत, जाति-पांति, सती प्रथा, बाल-विवाह, पर्दा प्रथा, विधवा-विवाह निषेध, बहुविवाह, भूतप्रेत, जादू-टोना और समुद्रबंधन निषेध, कालचक्र की अवश्यंभाविता, पतनोन्मुखता आदि न जाने कितने अंधविश्वासों और कुरीतियों के पाश में जकड़ा था। इनके उन्मूलन के आंदोलनों का नेतृत्व भी इसी वर्ग ने किया। यह देखकर आश्चर्य होता है कि भारत के परंपरागत ज्ञान, धार्मिक और अध्यात्म संपदा का स्वामी पंडित एवं धर्माचार्य वर्ग न तो स्वतंत्रता के संघर्ष में और न ही समाज-सुधार में नेतृत्व प्रदान कर सका।

मुस्लिम समुदाय – सांप्रदायिक प्रवृत्ति

भारतीय समाज का अभिन्न अंग होते हुए भी मुस्लिम समुदाय समाज-सुधार तथा धार्मिक-सुधार के प्रबल आंदोलनों को पैदा न कर सका। समाज-सुधार के कुछ आंदोलन शुरू अवश्य हुए, पर वे बलशाली न हो सके। जिन मुस्लिम सुधारकों ने ऐसी कोशिश की उन्हें अपने समुदाय के प्रबल विरोध का सामना करना पड़ा। पश्चिम से प्राप्त लोकतांत्रिक राज्य व्यवस्था का विचार भी भारत के अल्पसंख्यक समुदाय को रास नहीं आया। सर सैयद अहमद खां पाश्चात्य शिक्षा के प्रबल समर्थक थे और समाज-सुधारक भी। वह लोकतंत्र को भारत के लिए अनुपयुक्त समझते थे। ऐसी दशा में मुस्लिम समुदाय अधिक पिछड़ गया। ऐसा लगता है कि वह अपनी पृथक पहचान की रक्षा की चिंता में पड़ गया। उसका नेतृत्व सहायता और प्रेरणा के लिए पश्चिमी एशिया के मुस्लिम देशों की ओर भी देखता था। पर यह वर्ग स्वयं समय की पुकार पर आगे बढ़ने में असमर्थ था। भारत में अन्य अल्पसंख्यक समुदाय भी थे, जैसे पारसी, ईसाई, सिख, जैन आदि। परंतु नए युग की चुनौती के सम्मुख उन्होंने मुस्लिम समुदाय की भांति पश्चातगामिता और अलगावपन का रास्ता नहीं पकड़ा।

मध्यम वर्ग का शिक्षित हिंदू भी नई पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति को सर्वांशतः स्वीकार नहीं करता था। वह अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए और अपनी विशिष्टता बनाए रखने के लिए भारत के प्राचीन इतिहास और उपलब्धियों की ओर उन्मुख

हुआ। वह संस्कृत और उसके वाङ्मय को अपनी निधि मानकर उसकी ओर भी प्रवृत्त हुआ। उस समय, विशेषकर उत्तर भारत में, फारसी और उर्दू भाषाएं अदालती और प्रशासनिक भाषाएं थीं। उसका स्थान विभिन्न प्रांतों में बांग्ला, मराठी, गुजराती आदि लेने लगीं और आज के हिंदीवाले क्षेत्र में नागरी लिपि में हिंदी को मुख्य स्थान देने की प्रवृत्ति जगी। उर्दू नए शब्दों और काव्य विधाओं के लिए फारसी की ओर झुकती है तो हिंदी संस्कृत की ओर। हिंदू हिंदी की ओर झुके और मुसलमान उर्दू की ओर। मुसलमान उर्दू को राजभाषा बनाना चाहते थे–क्षेत्रीय स्तर पर भी और अखिल भारतीय स्तर पर भी। हिंदू हिंदी को यह दर्जा देना चाहते थे। उर्दू-हिंदी के सवाल पर मुसलमान बहुत शंकित और संवेदनशील बने रहे। हिंदुओं की बहुसंख्या से वह बहुत शंकित थे। अंग्रेजी हुकूमत भी हिंदू-मुस्लिम एकता को अपने लिए अशुभ समझती थी। वह 1857 के सशस्त्र विद्रोह को भूली नहीं थी और अपनी कुटिल नीतियों द्वारा दोनों समुदायों को उकसाती रही। परंतु नई परिस्थितियों में राजनीतिक एकजुटता न हो पाने के कुछ अन्य गहरे कारण भी थे।

एक कारण यह था कि दोनों समुदाय के लोग भारत के इतिहास को अलग अलग दृष्टियों से देखते थे। मुस्लिम समुदाय प्राचीन भारत की विरासत का दावेदार बिलकुल न था। इसके विपरीत हिंदू समुदाय को पुराने इतिहास और प्राचीन भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति पर गर्व था। मुस्लिम समुदाय में प्राचीन भारत के महापुरुषों के प्रति भी अपनत्व न था। मध्यकाल के भारत में शासन के शीर्ष पुरुष अधिकतर मुसलमान थे। उनके प्रति अपनत्व की भावना और उनको भारतीय शासक मान गौरव का अनुभव करने के प्रश्न पर भी दोनों समुदायों की दृष्टि में भेद था। अकबर जैसे महान शासकों की निंदा होने लगी थी, हिंदू समुदाय के लोगों की ओर से भी और मुस्लिम समुदाय की ओर से भी। परंतु अलग अलग दृष्टियों में दूसरा गहरा भेद धर्म-परिवर्तन के बारे में था। हिंदू समुदाय की परंपरा में स्वेच्छा से दूसरे धर्म को स्वीकार करना अक्षम्य पाप नहीं था। इसे व्यक्ति का बुनियादी अधिकार माना जाता है। भारत में जन्मे सभी धर्म इसी मान्यता के हैं। लेकिन इस्लामी परंपरा में किसी मुस्लिम द्वारा धर्म-परिवर्तन की गुंजाइश नहीं है। यह गंभीरतम अपराध है। विज्ञान और पाश्चात्य सभ्यता की प्रतिक्रिया भी दोनों समुदायों पर भिन्न भिन्न हुई। हिंदू समुदाय ने उसका उत्तर समाज-सुधार और नए नए धार्मिक पंथों को जन्म देकर दिया। यह समन्वयात्मक बुद्धि है। इसके विपरीत मुस्लिम समुदाय शुद्ध और आदिकालीन इस्लाम की ओर उन्मुख होने लगा। राष्ट्रीयता के विकास के लिए राष्ट्रीय प्रतीकों की आवश्यकता थी। हिंदू समुदाय को 'भारत माता' और 'वंदेमातरम्' जैसे प्रतीक प्रेरित करते थे। लेकिन मुसलमानों को यह प्रतीक इस्लाम विरोधी जान पड़ते।

यों तो इस्लाम भाईचारे और समता (मसावात) का समर्थक है, पर भारत के मुस्लिम शासकों की नीति इससे ठीक उलटी थी। उनकी नीति भारत के परंपरागत विषमता के सिद्धांत और जाति प्रथा का अनुसरण करती रही। मुस्लिम समुदाय में लगभग 90 प्रतिशत लोग निम्न जातियों के हैं और यह समुदाय भी ऊंची-नीची विभिन्न जातियों का समूह है। सैयद, शेख, तुर्क, पठान और राजपूत जैसी जातियां उच्च श्रेणी में हैं। मुसलमान शासकों के लंबे शासनकाल में छोटी जातियों के लोगों को निकृष्ट मानकर सत्ता और उच्च शासन से दूर रखा गया। इसके विपरीत ऊंची जाति के हिंदू शासन और प्रशासन के ऊंचे से ऊंचे पदों पर आसीन दिखाई पड़ते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि मध्यकाल में राजसत्ता पर अभिजात वर्ग के लोगों का ही एकाधिकार था।

धर्म के झगड़ों और मतांतरों से ऊपर उठकर मध्ययुग में एक प्रकार की भाईबंदी सामाजिक स्तर पर बन गई थी। यही कारण है कि लाखों गांवों और नगरों में सभी धर्मों के लोग सहयोगपूर्वक और स्थानीय अनुशासन और समाज व्यवस्था में रहते थे। शासन में भी धर्मभेद बहुत कुछ समाप्त हो गया था। शायद इसी कारण 1857 के विद्रोह में हिंदू और मुसलमान शासक एकजुट हो गए थे। धार्मिक मतभेद शासन की नीति और जनता के सामाजिक जीवन की एकता में आड़े नहीं आते थे।

किंतु नई परिस्थितियां पुराने सामंजस्य को भंग कर रही थीं। उन्नीसवीं सदी में हिंदू समुदाय के अंदर भी आर्यसमाज जैसा एक निराला पंथ उदित हुआ। वह समाज-सुधार और राजनीतिक स्वतंत्रता का प्रबल समर्थक था, पर वह अन्य संप्रदायों के प्रति असहिष्णु था, विशेषकर इस्लाम और ईसाई धर्मों के प्रति। आर्यसमाज के प्रसार और प्रचार का मुख्य क्षेत्र उत्तर भारत था। दक्षिण भारत में यह नहीं फैला। आगे चलकर यह क्षेत्र सांप्रदायिक राजनीति और दंगों का अखाड़ा बन गया। आर्यसमाज ने खुले मंच से अन्य धर्मों की कटु आलोचना की और जो लोग धर्मांतरण द्वारा मुसलमान या ईसाई हो गए थे, उन्हें वापस लाने के लिए 'शुद्धि' का आंदोलन चलाया। धर्मप्रसार का यह ढंग ईसाई और इस्लाम धर्मों से लिया गया था।

इन परिस्थितियों में 1885 में जिस अखिल भारतीय राजनीतिक दल की स्थापना हुई वह विशेषकर मुस्लिम समुदाय को कभी आश्वस्त न कर सका। फिर भी, भारत की स्वतंत्रता का संघर्ष इसी संगठन के द्वारा होता था। युग की पुकार थी राष्ट्रीयता और लोकतंत्र। कांग्रेस ने इसी पथ को पकड़ा था। पर नए मुस्लिम नेतृत्व को राष्ट्रीयता और लोकतंत्र की यह धारा रास नहीं आई। जिन मुस्लिम नेताओं ने इस पथ का अनुसरण किया वह मुस्लिम समुदाय का व्यापक सहयोग प्राप्त न कर सके। मुस्लिम समुदाय की इसी मानसिकता के तहत मुस्लिम लीग बनी और आगे चलकर मुस्लिम राष्ट्रवाद का उदय हुआ और पाकिस्तान बना।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना

उन्नीसवीं सदी के चौथे चरण में भारत की राजनीतिक परिस्थिति ऐसी थी जिसमें विशेषकर नई शिक्षा प्राप्त किए हुए नए मध्यम वर्ग को एक अखिल भारतीय राजनीतिक संगठन की तीव्र आवश्यकता महसूस हो रही थी। विदेशी हुकूमत की नीतियों ने एक ऐसी पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी जिसमें भारत के लोग राजनीतिक दल बनाकर अपने अधिकारों तथा स्वतंत्रता की मांग कानून के दायरे में शांतिपूर्ण ढंग से कर सकते थे। उस समय के उभरते हुए भारतीय नेतृत्व को वैधानिक नीति पर विश्वास था और विश्वास था अंग्रेजी शासकों के मंतव्यों की निष्कपटता पर। यह संगठन लंबे प्रयास के बाद 1885 में 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' (भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस) के नाम से बनाया गया। इसका पहला सम्मेलन बंबई में हुआ और इसकी स्थापना में भारतीयों के अलावा कुछ अंग्रेजों का भी हाथ था। भारत में साम्राज्य के प्रतिनिधि गवर्नर जनरल की भी इसमें सहमति थी। इसके द्वारा विदेशी शासन सत्ता भारतीयों को सशस्त्र विद्रोह से विमुख कर वैधानिक उपायों की ओर प्रवृत्त करना चाहती थी।

शुरू में इसके उद्देश्य स्पष्ट न थे। कोई उद्देश्य-पत्र तैयार नहीं किया गया था। अध्यक्ष के भाषण और स्वीकार किए गए प्रस्तावों के आधार पर यह कह सकते हैं कि शुरू में कांग्रेस का मुख्य ध्येय भारत में अंग्रेजी साम्राज्य के अंतर्गत वैध और शांतिमय उपायों द्वारा भारतीयों के हितों की रक्षा एवं संवर्धन करना था। जैसा कि ऊपर कहा गया है, कांग्रेस की स्थापना में हिंदुस्तानियों के अलावा अनेक प्रबुद्ध अंग्रेजों का सहयोग और तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड डफरिन की सहमति थी। एलन ओक्टेवियन ह्यूम अंग्रेज थे और भारत सरकार में उच्च पदों पर रह चुके थे। कांग्रेस की स्थापना में उनका विशेष प्रयास था। पहले सम्मेलन के अध्यक्ष बंगाल के व्योमकेशचंद्र बनर्जी थे। वह ईसाई थे। दूसरे वार्षिक सम्मेलन के अध्यक्ष दादा भाई नौरोजी थे। वह पारसी थे। और तीसरे वार्षिक सम्मेलन के अध्यक्ष बदरुद्दीन तैयब जी थे। कांग्रेस के नेताओं को भारत की अंग्रेजी हुकूमत से प्रोत्साहन और सहयोग की वहुत उम्मीद थी। लेकिन सरकार ने कांग्रेस की मांगों को विशेष महत्व नहीं दिया और जल्द ही इन नेताओं को यह आभास हो गया कि प्रबल जनमत के अभाव में मात्र अनुनय-विनय से कुछ अधिक प्राप्ति नहीं होगी। कांग्रेस के अधिवेशनों में लोगों की बढ़ती हुई संख्या को देखकर सरकार सावधान हो गई और मुसलमानों को उससे दूर करने के उपाय करने लगी। सर सैयद अहमद खां मुसलमान्रों को कांग्रेस और राजनीति से अलग रहने के लिए प्रेरित कर रहे थे। उनका विचार था कि मुसलमानों को राजभक्त रहकर अपनी सामाजिक और शैक्षिक स्थिति को सुधारना चाहिए और अंग्रेजी शासन को किसी प्रकार की चुनौती नहीं देनी चाहिए। इस समय के अधिकांश मुस्लिम नेता या तो नवाब और जागीरदार थे या कुछ धर्माचार्य मौलवी।

दोनों ही कांग्रेस में मुसलमानों की भागीदारी के विरोधी थे। एक वर्ग को भय था कि इससे शासन और प्रशासन में निम्नजातीय लोगों का प्रभाव बढ़ जाएगा, और एक दूसरा वर्ग अंग्रेजों को निकाल कर इस्लामी शरीयत के अनुसार शासन स्थापित करना चाहता था। तो भी मुसलमानों में कुछ लोग ऐसे थे जो हिंदू-मुस्लिम एकता, समान भारतीय राष्ट्रीयता और लोकतंत्र के समर्थक थे। पर यह लोग कभी व्यापक मुस्लिम जनता को अपने साथ न ले सके।

मुस्लिम लीग की स्थापना

सन् 1906 में आल इंडिया मुस्लिम लीग की स्थापना हुई। इसे वायसराय और तत्कालीन ब्रिटिश सरकार के भारत मंत्री का समर्थन प्राप्त था। असली बात तो यह है कि तत्कालीन वायसराय की प्रेरणा से ही यह संगठन बना था। इसके मुख्य उद्देश्य में पहला था राजभक्ति की भावना में वृद्धि करना और दूसरे तथा तीसरे उद्देश्यों में था राज्य के कानूनों के बारे में पैदा हुए भ्रम को दूर करना और मुसलमानों के राजनीतिक एवं अन्य हितों की रक्षा करना तथा उनकी आकांक्षाओं एवं मांगों को सरकार के सामने सविनय प्रस्तुत करना।

मुस्लिम लीग शुरू से ही कांग्रेस की काट करती हुई दिखाई देती है। अंत में इसने धर्म को राष्ट्र का आधार बनाकर मुस्लिम-बहुल प्रदेशों में पृथक मुस्लिम राष्ट्र की मांग की।

उस समय सरकारी नौकरी की बहुत प्रतिष्ठा थी। लेकिन सरकारी नौकरियों में मुसलमानों की संख्या बहुत कम थी। फलतः भारतीय समाज में मुसलमानों का प्रभाव घट रहा था। यह देखकर अनेक मुसलमानों को लगा कि सरकारी नौकरी और पाश्चात्य प्रकार की नई शिक्षा के बिना न व्यक्तिगत उन्नति संभव है और न ही मुसलमानों की सामुदायिक प्रभावशीलता को बढ़ाया जा सकता है। मुस्लिम लीग ने पाश्चात्य शिक्षा का विरोध नहीं किया, बल्कि उसे प्रोत्साहित किया। वस्तुतया कांग्रेस की भांति उसमें भी अंग्रेजी शिक्षा पाए हुए लोग ही अधिक थे। नेतृत्व और संचालन उन्हीं के हाथ में था। इस प्रकार हम देखते हैं कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों ही विदेशी सत्ता की सहमति से आरंभ किए गए संगठन थे और दोनों का नेतृत्व पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त लोगों के हाथ में था।

हिंदू महासभा

मुस्लिम लीग के जन्म और नीति ने हिंदू महासभा के आविर्भाव को प्रेरित किया। लेकिन उसका प्रभाव हिंदू जनता पर नगण्य रहा। भारत के सांप्रदायिक विभाजन से सांप्रदायिक भावना को बल मिला और स्वतंत्रता के बाद के काल में धर्मनिरपेक्ष

राष्ट्रीयता को इन शक्तियों के प्रबल विरोध का सामना करना पड़ा। हिंदू महासभा में पंडित मदनमोहन मालवीय और लाला लाजपत राय जैसे लोग भी थे। पर ये लोग सांप्रदायिक द्वेष से प्रेरित न थे और सांप्रदायिक सामंजस्य एवं मेल-मिलाप में विश्वास करते थे। महासभा के कुछ अन्य नेता उग्रपंथी थे और उग्र हिंदूवाद के समर्थक थे। वीर सावरकर और भाई परमानंद ऐसे ही हिंदू महासभाई नेता थे।

औद्योगिक क्रांति तथा लोकतंत्र

यूरोप में अठारहवीं सदी में शुरू हुई औद्योगिक क्रांति की आर्थिक व्यवस्था पूंजीवादी थी। पहले खेती प्रधान थी और अब उद्योग प्रधान हो गया। औद्योगिक क्रांति अपने साथ लोकतंत्र और राष्ट्रीयता को लेकर आई। इससे समाज, उसकी सभी संस्थाएं और राजनीतिक ढांचा सब कुछ बदलने लगा। व्यवसाय, धर्म, शिक्षा, विधि, परिवार– सभी में क्रांति आ गई। कृषि को भी नई तकनीक और नए उद्योगों ने अपने रंग-ढंग में ढालना शुरू कर दिया। पहले वह मुख्यतया पारिवारिक और स्थानीय उपयोग के लिए थी, लेकिन नए युग में धीरे धीरे देश-विदेश के उद्योगों तथा उपभोक्ताओं के निमित्त बाजार की मांग पूरा करने लगी। वस्तु-विनिमय का स्थान हाट-व्यवस्था ने ले लिया। नृपतंत्र और सामंतवादी राज्य व्यवस्था का स्थान गणतंत्र एवं लोकतंत्र ने ले लिया। नृपतंत्र और सामंतशाही को या तो समाप्त कर दिया गया या शक्तिहीन बना दिया गया। लोकतंत्र का युग आ गया। आम जनता के कानूनी अधिकार बढ़ गए। इसके द्वारा आम जनता को सरकार बनाने और बदलने का अधिकार मिल गया। अपना अपना व्यवसाय करने की सबको छूट मिल गई। किसानों को जमींदारी की दासता या अर्द्धदासता से छुटकारा मिल गया। व्यापारी तथा पूंजीपति वर्ग को निरंकुश राजाओं और रजवाड़ों की मनमानी से मुक्ति मिली। पर इस व्यवस्था ने जनता की बेरोजगारी को बढ़ा दिया। भूखे-नंगे बेरोजगार लोगों की संख्या बहुत बढ़ गई। शक्तिचालित मशीनी उद्योगों के सामने पुराने कुटीर उद्योग नष्ट होने लगे। नए कारखानों में बेरोजगार हुए लोगों में से एक छोटे अंश को ही रोजगार मिल सकता था। मजदूरी इतनी कम थी कि आम मजदूर दरिद्र बना रहा। बहुत समय तक मजदूर के लिए न तो काम के अधिकतम घंटे निर्धारित थे और न जीवन-निर्वाह की निम्नतम मजदूरी का कानून था। पूंजीपति वर्ग धनी से अधिक धनी होता गया और दूसरी ओर आम जनता में बेरोजगारी और निर्धनता बढ़ती गई। इसका कारण यह था कि बढ़ते हुए उत्पादन के समुचित वितरण की कोई कुशल व्यवस्था न थी। इसके अतिरिक्त पूंजीवादी व्यवस्था शुरू से ही बीच बीच में आर्थिक संकटों का सृजन करने लगी। इन संकटों से रक्षा के लिए और अपने उत्पादन की खपत के लिए औद्योगिक देशों को विदेशी बाजारों की आवश्यकता थी। प्रत्येक उद्योग-प्रधान देश ने एशिया, अफ्रीका

और दक्षिण अमरीका के अधिक से अधिक बाजारों को अधिकृत करने का प्रयत्न किया। वहां से सस्ते दामों पर कच्चा माल प्राप्त करने और मोटे लाभ पर अपने पक्के माल की वहां खपत करने के लिए उन्हें अपने अधीन किया गया। इस प्रतिद्वंद्विता ने अनेक युद्धों को जन्म दिया। इस तरह एक औद्योगिक देश ने अन्य प्रतिद्वंद्वी औद्योगिक देशों से अपनी रक्षा करने की कोशिश की। औद्योगिक क्रांति के पहले भी यूरोप के व्यापारियों ने इन देशों के व्यापार से बहुत धन कमाया था। इसमें सोने, चांदी और बहुमूल्य धातुओं और हीरे आदि की खानों की लूट भी थी। साम्राज्यवाद की अपनी लंबी कहानी है। परंतु इन सब कमियों के रहते हुए भी उद्योगवाद और पूंजीवाद फलते-फूलते गए।

उन्नीसवीं सदी का आरंभ होते होते यह स्पष्ट हो गया था कि सारा संसार पश्चिमी देशों के अधीन हो जाएगा। और 1815 में नेपोलियन की अंतिम पराजय के बाद यह भी स्पष्ट हो गया था कि संसार की सबसे बड़ी शक्ति ब्रिटेन है, सामरिक दृष्टि से भी और उद्योग एवं व्यापार की दृष्टि से भी। भारत की सामरिक शक्ति तो पहले ही नष्ट हो चुकी थी। उसका स्थान निराशा और पराजित मानसिकता ने ले लिया था। राजाओं और नवाबों में देश का नेतृत्व करने की और खोई हुई सत्ता को हासिल करने की हिम्मत नहीं थी। वे हताश होकर ब्रिटिश हुकूमत के आश्रित हो गए थे। तो भी छोटे छोटे अनेक विद्रोह हुए। लेकिन भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का शिकंजा उत्तरोत्तर दृढ़ होता गया। नए युग में भारत का वह शिक्षित वर्ग प्रभावशाली होने लगा था जिसने पाश्चात्य प्रकार की नई शिक्षा ली थी। जैसा कि ऊपर कहा गया है, इस वर्ग में अनेक राजनीतिक विचारों के लोग थे। कुछ लोग वैधानिक रीति से भारतीयों के राजनीतिक अधिकारों और अन्य हितों के संवर्धन की आशा करते थे। दूसरे लोग अंग्रेजी माल के बहिष्कार और करबंदी जैसे आंदोलनों के द्वारा ऐसी हालत पैदा करना चाहते थे कि विदेशी सत्ता भारतीयों को उनके अधिकार देने को मजबूर हो जाए। क्रांतिकारियों का विचार था कि विप्लव और सशस्त्र क्रांति के बिना भारत अपनी स्वतंत्रता प्राप्त नहीं कर सकता।

जब 1919 के बाद महात्मा गांधी ने कांग्रेस का नेतृत्व संभाला तब सशस्त्र क्रांति की धारा को छोड़कर इन सब प्रवृत्तियों का उनके सत्याग्रह और रचनात्मक कार्यक्रम में समावेश हो गया। लेकिन गांधीजी का आंदोलन भारतीय मुसलमानों की बहुसंख्या को भारतीय राष्ट्रीयता की धारा में लाने में सफल नहीं हो सका।

3. परिवार और बचपन

नरेंद्रदेवजी का जन्म गोपाष्टमी के दिन 31 अक्तूबर 1889 को सीतापुर (उत्तर प्रदेश) में हुआ था। यहां उनके पिता बाबू बलदेव प्रसाद वकालत करते थे। किंतु वह 1892 में अपने नगर फैजाबाद लौट आए थे। पारिवारिक स्मृति के अनुसार कोचर खत्रियों के इस परिवार के एक पूर्वज श्री कुंजामल[1] उन्नीसवीं शती के दूसरे या तीसरे चरण में किसी समय पश्चिमी पंजाब के स्यालकोट जिले से निकलकर फैजाबाद में आ बसे थे। वहां उनका पारिवारिक या व्यक्तिगत व्यवसाय क्या था, इसकी कोई स्मृति शेष नहीं है। यह भी पता नहीं लगता कि वहां से निष्क्रमण क्यों हुआ और वह निष्क्रमण के बाद सीधे फैजाबाद आए या इसके पहले किन्हीं अन्य स्थानों में रहे। पारिवारिक स्मृति के अनुसार श्री कुंजामल की फैजाबाद में बर्तनों की दुकान थी।

अवध में अंग्रेजी राज 1858 में स्थापित हुआ था। अतः यहां पाश्चात्य प्रकार की शिक्षा का प्रवेश कुछ देर से हुआ था। किंतु कुंजामल जी के परिवार के लोगों को नई शिक्षा, सरकारी नौकरी और वकालत जैसे नए धंधों को अंगीकार करने में कुछ भी समय नहीं लगा। श्री कुंजामल के छोटे भाई श्री सोहनलाल लखनऊ के केनिंग कालेज में अध्यापक थे और उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय से इंट्रेंस की परीक्षा मुरादाबाद स्कूल के माध्यम से 1872 में उत्तीर्ण की थी।[2] श्री कुंजामल के छोटे पुत्र और नरेंद्रदेवजी के पिता बाबू बलदेव प्रसाद वकील थे और उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय की इंट्रेंस परीक्षा बरेली कालेज के छात्र के रूप में 1874 में पास की थी।[3] उनके दूसरे पुत्र भी नई शिक्षा ग्रहण कर रेल विभाग में नौकर हो गए थे।

---

1. *आचार्य नरेंद्रदेव,* जगदीशचंद्र दीक्षित, सूचना एवं जनसंपर्क विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, 1989, पृ. 2-3. इनके नाम के बारे में कुछ भ्रम है। कुछ लेखकों ने कुंजबिहारी लाल बताया है। श्री दीक्षित ने पुराने अभिलेखों के आधार पर सिद्ध किया है कि उनका सही नाम कुंजामल था।
2. वही, पृ. 4.
3. वही, पृ. 4.

श्री कुंजामल के दो पुत्र थे—श्री रामजीमल और श्री बलदेव प्रसाद। श्री रामजीमल रेल विभाग में नौकर थे और बाबू बलदेव प्रसाद वकील थे। श्री कुंजामल के बाद व्यापार में कोई नहीं गया। श्री सोहनलाल और रामजीमल लखनऊ में बस गए थे। सोहनलाल जी संत प्रकृति के पुरुष थे और जीवन भर अविवाहित रहे। परिवार में उन्होंने ही सबसे पहले अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त की और बाबू बलदेव प्रसाद 1878 से सीतापुर में रहकर वकालत करते थे। सीतापुर से वह 1893 में पिता की मृत्यु के बाद फैजाबाद लौटे। नरेंद्रदेवजी उस समय दो-ढाई वर्ष के थे। फैजाबाद में उनकी वकालत अच्छी चमकी और वकालत की आमदनी के बल पर वह अवध के एक बड़े जमींदार हो गए। उनके चार पुत्र और दो पुत्रियां थीं। नरेंद्रदेवजी भाइयों में दूसरे स्थान पर थे। उनसे बड़े महेंद्रदेव थे। पिता की भांति उनका धंधा वकालत था। फैजाबाद के बड़े वकीलों में उनकी गणना थी। तीसरे नंबर पर सुरेंद्रदेव थे। उनका अल्प आयु में देहांत हो गया था। सबसे छोटे भाई योगेंद्रदेवजी एक नामी डाक्टर थे। वह दयालु स्वभाव के थे और निर्धनों की निःशुल्क चिकित्सा करते थे। नरेंद्रदेव की माता जवाहर देवी जी थीं। उनका जन्म उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले के मठिया नामक गांव में हुआ था। वह धार्मिक प्रवृत्ति की साधारण गृहिणी थीं। जब 1911 में नरेंद्रदेवजी उच्च शिक्षा के लिए यूरोप जाना चाहते थे तो धर्मभ्रष्टता के भय से अभिभूत हो उन्होंने पुत्र को ऐसा करने से रोक दिया था। उस समय का हिंदू समाज समुद्रलंघन को पाप समझता था। दूसरे, खान-पान तथा छुआछूत के अनेक आग्रह थे। नरेंद्रदेवजी के दो विवाह हुए। पहला विवाह 1904 में 14 वर्ष की अवस्था में हुआ। गौना कब हुआ यह पता नहीं। पहली पत्नी गया की थी। वह विवाह के एक या दो वर्ष बाद मर गई। दूसरा विवाह प्रेमोदेवी से 1919 में तब हुआ जब वह फैजाबाद में वकालत कर रहे थे। प्रेमोदेवी आगरा की थीं, और दो पुत्रों तथा तीन पुत्रियों की मां बनीं। पुत्रों में बड़े अशोकनाथ वर्मा और छोटे हर्षवर्धन तथा पुत्रियों में क्रमशः सरोज, विद्या एवं सुषुमा। अशोक जी 1990-96 में राज्यसभा के सदस्य रहे।

बचपन

परिवार पहली पाठशाला है जहां से बच्चा अपने संस्कार ग्रहण करता है। अतः व्यक्ति के जीवन को बनाने में, उसके जीवन-आदर्शों और प्रेरणा-स्रोतों के निर्धारण में उसके पारिवारिक परिवेश का बहुत महत्व है। जब बालक बड़ा हो जाता है तो उसके बचपन के परिवेश का विस्तार होता है और यह फैल कर देश-विदेश तथा दूर अतीत तक पहुंच जाता है। एक युवक अपनी प्रवृत्तियों के अनुसार दूरस्थ पुरुषों और दूर अतीत की घटनाओं से प्रेरणा लेने में समर्थ होता है। नरेंद्रदेवजी के बचपन का

परिवेश ऐसा अवश्य था जिससे वह उन आदर्शों और प्रेरणाओं को ग्रहण कर सके जो उनके परवर्ती जीवन में दिखाई देती हैं। तो भी स्वभाव के कुछ अंश ऐसे भी होते हैं जिन्हें नितांत व्यक्तिगत कहा जा सकता है। जैसे, नरेंद्रदेवजी में हम उनके उदार चरित्र के साथ एक संकोच की भावना को पाते हैं। यह भावना जीवनभर उनके साथ रही। इस संकोच ने उनके राजनीतिक नेतृत्व को बाधित किया। अपने को पीछे रखने की प्रवृत्ति और आगे बढ़कर नेतृत्व लेने से बचना। इसी प्रकार अपनी निजी आवश्यकताओं की उपेक्षा इस सीमा तक कर देना कि गृहस्थी की जिम्मेदारियों की भी उपेक्षा हो जाए।

अपने जन्म-स्थान सीतापुर में वह दो-ढाई वर्ष की अवस्था तक रहे। वहां जिस परिवार में जन्मे थे वह एक विलक्षण परिवार था। बाबू मुरलीधर न तो उनके वंश के थे और न ही सगे-संबंधी। वह भी वकील थे। बलदेव प्रसाद जी के साथ संयुक्त रूप से वकालत करते थे। इन दोनों के परिवारों से मिलकर उनका एक निराला संयुक्त परिवार बना था। दोनों सगे भाईयों की भांति रहते थे और नरेंद्रदेवजी के अनुसार आमदनी और व्यय भी अलग अलग न थे। मुरलीधरजी अवस्था में बड़े थे। वह निःसंतान थे और बलदेव प्रसादजी के बच्चों को पिता का स्नेह देते थे। नरेंद्रदेवजी के अनुसार "वह अपने भतीजे और मेरे भाई को पुत्र के समान मानते थे।" बलदेव प्रसादजी और मुरलीधरजी की पत्नियों के बीच अवश्य ही स्नेह संबंध रहा होगा। यदि ऐसा न होता तो जिस संयुक्त परिवार की सूचना नरेंद्रदेवजी देते हैं वह निरापद न रहता। मुरलीधरजी के स्वभाव और कार्यकलापों के बारे में इससे अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। हां, आचार्यजी ने विशेषकर अपने पिताश्री के बारे में हमें कुछ जानकारी दी है। अन्य स्रोतों से भी उनके स्वभाव, प्रवृत्तियों और कार्यकलापों का पता हमें लगता है। इससे हमें यह भी पता लगता है कि आचार्यजी के मूल चरित्र का आधार उनका अपना परिवार था, और उसमें विशेषकर उनके पिताजी।

"वे बड़े दानशील और सात्विक वृत्ति के थे। वेदांत में उनकी बड़ी अभिरुचि थी और इस शास्त्र का उन्हें अच्छा ज्ञान था। संन्यासियों का सत्संग सदा किया करते थे। जिस समय उन्होंने शिक्षा प्राप्त की थी उस समय फारसी का प्रचलन था। किंतु अपनी संस्कृति और धर्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्होंने संस्कृत का अभ्यास किया था। वे एक नामी वकील थे। लेकिन वकालत के अलावा भी उनकी अनेक दिलचस्पियां थीं। बालकों के लिए उन्होंने अंग्रेजी, हिंदी और फारसी में पाठ्यपुस्तकें लिखी थीं। इसके अतिरिक्त उन्होंने कई संग्रह-ग्रंथ भी प्रकाशित किए थे। अंग्रेजी की प्राइमर तो उन्होंने मेरे बड़े भाई को पढ़ाने के लिए लिखी थी। मेरा विद्यारंभ

इन्हीं पुस्तकों से हुआ था। उनको मकान बनाने और बाग लगाने का भी शौक था। हमारे घर पर एक छोटा-सा पुस्तकालय भी था। जब मैं बड़ा हुआ तो गर्मी की छुट्टियों में उसकी देखभाल भी किया करता था। सनातन धर्म के उपदेशक, संन्यासी और पंडित मेरे घर पर प्रायः आया करते थे। किंतु पिताजी कांग्रेस और सोशल कांफ्रेंस के काम में भी थोड़ी-बहुत दिलचस्पी लेते थे। ... पिताजी मुझसे विशेष रूप से स्नेह करते थे। वह भी मुझे नित्य आधा घंटा पढ़ाया करते थे।"[1]

प्रारंभिक तथा माध्यमिक शिक्षा

नरेंद्रदेवजी की प्रारंभिक शिक्षा घर पर हुई। उस समय फारसी और उर्दू का प्रचलन था, पर बलदेव प्रसादजी ने अपने बच्चों के लिए हिंदी, संस्कृत और अंग्रेजी की शिक्षा की भी व्यवस्था की थी। अध्यापक उनके घर पर ही परिवार के सब बच्चों को पढ़ाते थे। स्कूल में उनका प्रवेश छठी कक्षा में बारह वर्ष की अवस्था में हुआ था। दस साल की उम्र में उनका यज्ञोपवीत हुआ। इसके बाद वह अपने पिता के साथ नित्य संध्यावंदन और गीता का पाठ करते थे। एक महाराष्ट्रीय ब्राह्मण उन्हें सस्वर वेद पाठ सिखाते थे। पंद्रह साल की उम्र में उन्हें संपूर्ण *गीता* और *रुद्री* कंठस्थ थी और उन्होंने *लघुकौमुदी* एवं *अमरकोश* को भी पढ़ा था। बांग्ला भाषा भी सीखी थी। स्वतः किताबें पढ़ने में बहुत रुचि थी। घर पर ही तुलसीकृत *रामचरितमानस* और हिंदी *महाभारत* पढ़ा। इसके अतिरिक्त *सूरसागर, बेताल पचीसी, सिंहासन बत्तीसी* आदि पुस्तकें पढ़ीं। उस समय हिंदी के इस साहित्य का अधिक प्रचलन था। *चंद्रकांता* को उन्होंने 16 बार पढ़ा था। पढ़ाई में वह कुशाग्र थे। दसवीं कक्षा तक अपनी कक्षा में प्रथम आते थे। आचार्यजी ने उस समय का स्मरण करते हुए बताया है कि स्कूल में वह विशेषकर दो अध्यापकों से प्रभावित हुए थे। श्री दत्तात्रेय भीखाजी रानडे अंग्रेजी के कुशल अध्यापक थे। श्री राधेरमणलाल अध्यापक के साथ ही पुस्तकालय के प्रभारी थे। राधेरमणजी का नरेंद्रदेव पर इतना विश्वास था कि पुस्तकालय की चाबियां उनके सुपुर्द कर रखी थीं। अकसर वही पुस्तकों का लेन-देन करते थे। लेकिन खेलकूद में नरेंद्रदेव की रुचि विशेष न थी। खेल के समय वह घूमना-फिरना अधिक पसंद करते थे।

अन्य प्रभाव

बचपन में नरेंद्रदेवजी को जिन अन्य लोगों ने प्रभावित किया उनमें तीन उल्लेखनीय हैं। 1904 में महामना मदनमोहन मालवीय फैजाबाद आए थे। तब वह इनके घर

---

1. *राष्ट्रीयता और समाजवाद*, आचार्य नरेंद्रदेव, 'मेरे संस्मरण', ज्ञानमंडल, वाराणसी, 1973 (द्वितीय मुद्रण), पृ. 436.

पर भी पधारे थे। बालक नरेंद्रदेव के मुख से गीता के श्लोकों का शुद्ध उच्चारण सुनकर वह बहुत प्रसन्न हुए। नरेंद्रदेव उस समय 14 वर्ष के थे और आठवीं के विद्यार्थी थे। प्रसन्न होकर मालवीयजी ने उन्हें कालेज की पढ़ाई के लिए इलाहाबाद में अपने हिंदू छात्रावास में रहने का आमंत्रण दिया था। दूसरी विभूति स्वामी रामतीर्थ हैं। वे कई बार फैजाबाद आए और बलदेव प्रसाद के मेहमान रहे। उनका अंतिम आगमन 1906 में हुआ था। स्वामीजी अपने समय के तेजस्वी संन्यासी थे। स्वामी विवेकानंद की तरह उदार वेदांती थे और दरिद्रनारायण की सेवा द्वारा नारायण को पाने का संदेश दे रहे थे। नरेंद्रदेवजी ने उनका पूरा साहित्य पढ़ा। संयोग से उस समय एक रोचक घटना घट गई। स्वामीजी हिमालय की यात्रा पर जाने के लिए अपना सामान संभाल रहे थे। माधवप्रसादजी मिश्र वहां उपस्थित थे, उन्होंने अचानक स्वामीजी से कहा कि संन्यासी को सामान की क्या आवश्यकता है। इतना सुनते ही स्वामीजी ने अपना सामान वहीं छोड़ दिया और अपनी यात्रा पर निकल पड़े। तीसरे व्यक्ति यही श्री माधवप्रसाद मिश्र हैं। मिश्र जी मस्त आदमी थे। देशप्रेमी थे। बाबू बलदेव प्रसाद के स्नेही मित्र थे। वह कभी कभी महीनों उनके घर रह जाते थे। मिश्रजी ने बांग्ला की प्रसिद्ध पुस्तक *देशेर कथा* का हिंदी में अनुवाद कर प्रकाशित किया था। उसे विदेशी सत्ता ने अवैध घोषित कर दिया था। उन्होंने ही आचार्यजी का नाम अविनाशी लाल से बदल कर नरेंद्रदेव कर दिया था।

सन् 1906 में नरेंद्रदेवजी ने दसवीं कक्षा पास की। अब वह 16 वर्ष के किशोर थे। युवा अवस्था की देहली पर खड़े थे। इस किशोर में देशभक्ति का अंकुर फूट चुका था, पर राजनीति की समझ अभी नहीं आई थी। भारतीय संस्कृति से प्रेम पैदा हो गया था, पर संस्कृति का अधिक ज्ञान न था। ज्ञान की अदम्य प्यास इलाहाबाद के म्योर सेंट्रल कालेज में पढ़ते समय पैदा हुई। वहां वह हिंदू छात्रावास में रहते थे। उस समय यह छात्रावास गर्मदलीय विचार के युवकों का केंद्र बना हुआ था। वहां उनका भारत विद्या और संस्कृत के विद्वानों से संपर्क हुआ।

वह ऐसा युग था जब वातावरण में सांप्रदायिक द्वेष की दुर्गंध नहीं फैली थी। फैजाबाद में हिंदू और मुसलमानों में मेल-मिलाप का जीवन था। लोग एक दूसरे के त्योहारों और उत्सवों में प्रसन्नतापूर्वक और उत्साह के साथ शामिल होते थे। नरेंद्रदेवजी इन मेलों और त्योहारों में बचपन से सोत्साह शामिल होते आए थे। शायद ही कोई मेला उनसे छूटा हो, कई उर्स और मेले तो मिले-जुले थे। अवध के पुराने नवाबों का हिंदुओं के साथ सद्भावपूर्ण संबंध था। शिया मुसलमानों के प्रतिष्ठित परिवारों ने हिंदू समुदाय की भावना के कारण गोमांस का त्याग कर दिया था। अयोध्या के प्रसिद्ध मंदिर 'हनुमान गढ़ी' की भूमि नवाबी हुकूमत से ही दान में मिली थी। ऐसे वातावरण में नरेंद्रदेव का बचपन बीता था। हां, कुछ मनमुटाव आर्यसमाज के कारण

होने लगा था। आर्यसमाजी खुले मंच से अन्य धर्मों की तीखी एवं कटु आलोचना करते थे। इससे नरेंद्रदेवजी के पिता कई बार बहुत दुखी होते थे। अतः आर्यसमाज के प्रति नरेंद्रदेव की भावना अनुकूल न थी। लेकिन बाद में इस दुर्भावना को भी उन्होंने दिल से निकाल फेंका।

मालवीयजी ने इलाहाबाद में हिंदू छात्रावास का निमंत्रण पहले से ही दे रखा था। परंतु नरेंद्रदेव का मन बनारस के सेंट्रल हिंदू कालेज में पढ़ने का था। मालवीयजी वहां के भी अधिकारी थे। वहां डा. भगवानदास और श्रीमती एनी बेसेंट थीं। उनका भी आकर्षण रहा। पर अन्य सहपाठी और मित्र इलाहाबाद की ओर खींच रहे थे। अंत में इलाहाबाद के म्योर सेंट्रल कालेज में आगे की पढ़ाई करने का निर्णय हुआ।

4. उच्च शिक्षा और नई चेतना

फैजाबाद में रहते हुए नरेंद्रदेवजी का परिवेश धार्मिक और सांस्कृतिक अधिक था। यों तो उनके पिता कांग्रेस में भी दिलचस्पी रखते थे, लेकिन राजनीतिक गतिविधि अधिक न थी। अतः हाईस्कूल तक नरेंद्रदेवजी की राजनीतिक चेतना देशभक्ति में सिमटी हुई थी। इलाहाबाद पहुंचकर भारतीय राजनीतिक मंच की झलक दिखाई दी। यहां उन्होंने क्रियात्मक राजनीति के रंग-ढंग को कुछ अधिक निकट से देखा। इसके अलावा अनेक राजनीतिक विचारधाराओं और सिद्धांतों से भी परिचय होने लगा। आचार्यजी मेरे संस्मरण में कहते हैं, "मेरे विचार प्रयाग में परिपक्व हुए और वहीं मुझको एक नया जीवन मिला। इस नाते मेरा प्रयाग से एक प्रकार से आध्यात्मिक संबंध है।"[1] इसी संस्मरण में वह कहते हैं, "प्रयाग आने पर मेरे विचार तेजी से बदलने लगे। उस समय बोर्डिंग हाउस (हिंदू छात्रावास) में रात दिन राजनीतिक चर्चा हुआ करती थी। मैं बहुत जल्द गरम विचारों का हो गया।"[2]

बंगभंग

सन् 1905 में भारत के राजनीतिक आकाश का रंग ही बदल गया। उधर रूस पर जापान की विजय और इधर ब्रिटिश सत्ता द्वारा बंगाल का हिंदू बंगाल और मुस्लिम बंगाल में विभाजन, दोनों ने मिलकर भारत की राजनीति को गरम कर दिया। प्रतिक्रिया में एक नए आंदोलन का सूत्रपात हुआ। जो राजनीतिक चेतना अब तक एक छोटे-से मध्यम वर्ग तक सीमित थी उसका प्रसार साधारण जनता तक हो गया। नगरों और कसबों में हड़ताल, जुलूस और जनसभाएं होने लगीं। शासकों को विद्रोह के बादल घिरते दिखाई पड़े। बंगाल जाग उठा और लगा कि सारा भारत भी जल्द ही जाग जाएगा। लाखों लोगों ने विलायती माल का बहिष्कार करने का एलान किया और स्वदेशी का व्रत लिया। क्रांतिकारियों ने ऐसे अनेक अंग्रेज अफसरों और हिंदुस्तानी अधिकारियों को गोली से दाग कर मार डाला जो दमनात्मक कार्रवाइयों में अधिक उत्साह दिखा रहे थे। क्रांतिकारियों का मत था कि सशस्त्र विद्रोह से ही विदेशी

---

1. '*राष्ट्रीयता और समाजवाद*, आचार्य नरेंद्रदेव, ज्ञानमंडल लि., वाराणसी, (पुनर्मुद्रित), सन् 1973, पृ. 442.
2. वही, पृ. 438.

हुकूमत को समाप्त किया जा सकता है। अंग्रेजी शिक्षा द्वारा लार्ड मैकाले हिंदुस्तानी राजभक्त पैदा करना चाहता था, पर उसी शिक्षा ने क्रांतिकारी भी पैदा कर दिए। यूरोप से जो साहित्य भारत में आ रहा था उसमें राष्ट्रीय स्वतंत्रता, लोकतंत्र और नई आर्थिक क्रांति का रोचक एवं उत्साहवर्धक वर्णन था। इनको यूरोपीय देशों की शक्ति और समृद्धि का आधार माना जाता था। इटली और आयरलैंड के राष्ट्रवादियों की वीरतापूर्ण कहानियां भारत के शिक्षित युवा वर्ग को विद्रोह और उत्सर्ग के लिए प्रेरित करने लगीं। विशेषकर इटली के राष्ट्रीय क्रांति के नेता मेजिनी और गेरी-बाल्डी भारत के राष्ट्रवादी युवाओं के हीरो बन गए थे। वास्तव में पूरा अंग्रेजी साहित्य पिछले तीन सौ-चार सौ साल में यूरोप में हुई वैचारिक, वैज्ञानिक, राजनीतिक और औद्योगिक क्रांति के प्रसंगों से. भरा था।

नई राजनीतिक चेतना

इलाहाबाद में नरेंद्रदेवजी को म्योर सेंट्रल कालेज में प्रवेश मिल गया और रहने के लिए अपनी पसंद के हिंदू छात्रावास में जगह मिल गई। यहां बनारस के शिवप्रसाद गुप्त भी उनके सहपाठी थे। दोनों अच्छे मित्र बन गए। बाद में काशी विद्यापीठ की स्थापना ने दोनों को फिर मिला दिया। नरेंद्रदेवजी ने विज्ञान के विषय नहीं लिए। उन्होंने संस्कृत, अंग्रेजी और इतिहास जैसे विषयों को चुना। शायद इसलिए कि इन विषयों का भारतीय संस्कृति और राष्ट्रीयता से गहरा संबंध था। शायद इसलिए भी कि उनके पिता को ये विषय पसंद थे। नरेंद्रदेवजी ने बाद में धर्म, दर्शन और संस्कृति का गहरा अध्ययन किया और इनके बारे में स्वतंत्र निष्कर्षों पर पहुंचे। इसमें उन्होंने अर्थशास्त्र, समाजविज्ञान, राजनीति, मनोविज्ञान और इतिहास जैसे नए विषयों से भी मदद ली। इतिहास और राजनीति का अध्ययन उन्हें मार्क्सवाद की ओर ले गया और धर्म तथा दर्शन के अध्ययन ने उन्हें बौद्ध दर्शन का प्रशंसक बना दिया।

सन् 1905 में नरेंद्रदेवजी अपने पिता के साथ बनारस (वाराणसी) में हुए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अखिल भारतीय सम्मेलन में गए थे। वहां इस किशोर ने देखा कि कांग्रेस की राष्ट्रीय धारा के अंदर भी नरमदल और गरमदल की अलग अलग धाराएं बह रही हैं। इस सम्मेलन में जब नरमदल के नेतृत्व ने ब्रिटेन के युवराज के आगमन के स्वागत का प्रस्ताव पेश किया तो दोनों पक्षों का मतभेद खुलकर सामने आ गया। अंत में श्री बालगंगाधर तिलक और उनके साथी अधिवेशन छोड़कर बाहर निकल गए। स्वागत का प्रस्ताव पास हो गया। पर युवा वर्ग तिलकजी और गरमदल की ओर खिंच गया। इस सम्मेलन से नरेंद्रदेवजी का ध्यान शायद पहली बार राष्ट्रीय आंदोलन के नीतिगत मतभेदों और विकल्पों की ओर गया।

पिता नरमदल वाले थे। बेटा गरमदल वाला हो गया। नरमदल और गरमदल

के संघर्ष की आंच पिता-पुत्रों के संबंधों तक पहुंचती थी। यह दो पीढ़ियों का ही नहीं, दो रास्तों का टकराव था। पता नहीं पिता-पुत्र के संबंध को इस टकराव से कैसे बचाया गया। शायद यह पिता की उदारता थी कि इस संबंध में कोई तनाव नहीं आया। पुत्र अपनी पसंद के रास्ते पर आगे बढ़ता गया।

सन् 1906 में कांग्रेस का अखिल भारतीय वार्षिक सम्मेलन कलकत्ता में हुआ तो इलाहाबाद के विद्यार्थियों का एक जत्था वहां पहुंचा। नरेंद्रदेव भी उसमें थे। इस बार वह पिता की छत्रछाया में नहीं गए थे।

पिछले एक साल में नरमदल और गरमदल के मतभेदों ने बढ़कर विकराल रूप ले लिया था। लगा कि कांग्रेस के दो टुकड़े हो जाएंगे। इस टूट से बचने के लिए लंदन में निवास कर रहे वयोवृद्ध नेता दादाभाई नौरोजी को अध्यक्षता के लिए बुलाया गया। उनके प्रभाव और नीतिमत्ता से इस समय कांग्रेस टूटने से बच गई, लेकिन दो पक्षों के बीच का नीतिसंबंधी संघर्ष और तीव्र हो गया। सम्मेलन समाप्त होते ही दोनों पक्ष प्रचार को निकल पड़े। बड़े नगर ही उस समय राजनीतिक चेतना के केंद्र थे। यही उच्च शिक्षा के केंद्र थे। अतः शिक्षित मध्यम वर्ग के अलावा शिक्षा ग्रहण कर रहा युवा वर्ग भी इन्हीं नगरों में था। इन वर्गों को अपने पक्ष में करने की होड़ लग गई। कलकत्ता में गरमदल की जो जनसभाएं हुई थीं, उनमें से एक में नरेंद्रदेव भी श्रोता थे। कलकत्ता में ही अपने कुछ साथियों के साथ नरेंद्रदेवजी ने स्वदेशी का व्रत लेने का निश्चय किया। इस प्रकार अपने कालेज जीवन के पहले साल में ही नरेंद्रदेव कांग्रेस के गरमदल के सक्रिय कार्यकर्ता बन गए।

गरमदल की नीतियों का प्रचार करने के लिए कलकत्ता सम्मेलन से लौटते हुए लोकमान्य बालगंगाधर तिलक इलाहाबाद आए। वहां की कांग्रेस पार्टी ने उनका बहिष्कार कर दिया। पर कालेज के विद्यार्थियों ने उत्साह के साथ उनका भव्य स्वागत किया। विद्यार्थी समुदाय ने ही उनकें ठहरने और उनकी जनसभा का पूरा प्रबंध किया। इन विद्यार्थियों में नरेंद्रदेव भी थे। इसके बाद इलाहाबाद में नरमदल और गरमदल के अनेक ख्यातनामा नेता आए। नरेंद्रदेव सब की सभाओं में जाते थे। पर नरमदल के नेताओं में गोपालकृष्ण गोखले को छोड़कर किसी ने नरेंद्रदेव को प्रभावित नहीं किया। सबकी बात सुनने के बाद वह इस नतीजे पर पहुंचे कि देश के लिए गरमदल की नीति ही सही है और तिलकजी ही देश को सही नेतृत्व दे सकते हैं। वह अपने को तिलकजी का अनुयायी मानने लगा।

गरमदल के नेताओं में अरविंद घोष के विचारों और व्यक्तित्व ने भी नरेंद्रदेव को कुछ कम प्रभावित नहीं किया। *मेरे संस्मरण* में आचार्यजी ने उनके प्रभाव का उल्लेख करते हुए कहा है, "हम लोगों ने स्वदेशी का व्रत लिया और गरमदल के

अखबार मंगाने लगे। कलकत्ता से दैनिक *बंदेमातरम* आता जिसे हम बड़े चाव से पढ़ते थे। इसके लेख बड़े प्रभावशाली होते थे। श्री अरविंद घोष इसमें प्रायः लिखा करते थे। उनके लेखों ने मुझे विशेष रूप से प्रभावित किया। शायद उनका कोई लेख होगा जो मैंने न पढ़ा हो और जिसे दूसरों को न पढ़ाया हो। उनके सादे जीवन ने मुझे बहुत प्रभावित किया।"[1]

क्रांतिकारियों के संपर्क में

इलाहाबाद में पढ़ते हुए ही नरेंद्रदेवजी और उनके कुछ साथियों का क्रांतिकारियों से संपर्क हो गया था। नरेंद्रदेवजी क्रांतिकारी दल के सदस्य नहीं बने, लेकिन क्रांतिकारियों के साथ उनकी गहरी सहानुभूति थी। यही नहीं, उनकी अनेक प्रकार से मदद करते थे। कई क्रांतिकारियों की डाक और उनका गुप्त साहित्य नरेंद्रदेवजी और उनके मित्र-परिचितों के द्वारा आता था। क्रांतिकारी साहित्य छिपे छिपे वितरित होता था और छिपाकर पढ़ा जाता था। यह मित्र मंडली समय समय पर क्रांतिकारियों की आर्थिक सहायता भी करती थी। बहुत-सा क्रांतिकारी साहित्य जर्मनी, अमरीका, फ्रांस आदि से आता था। इन देशों में भारतीय क्रांतिकारियों के कई संगठन ऐसे थे जो क्रांतिकारी युवकों को हथियार बनाने और चलाने की ट्रेनिंग भी देते थे, और क्रांतिकारी साहित्य भी तैयार करते थे। नरेंद्रदेव के कुछ साथी शिक्षा के लिए यूरोप गए थे। वे भी क्रांतिकारी साहित्य नरेंद्रदेव को भेजते थे। सावरकरजी ने 1857 के स्वतंत्रता संग्राम पर जो पुस्तक *वार आफ इंडियन इंडिपेंडेंस* लिखी थी उसकी प्रति नरेंद्रदेवजी को वहीं से भेजी गई थी। उनके पास लाला हरदयाल का *बंदेमातरम*, बर्लिन का *तलवार* और पेरिस का *इंडियन सोशयालजिस्ट* बराबर आता था। जब नरेंद्रदेवजी 1911 के बाद एम.ए. की पढ़ाई के लिए दो साल बनारस में थे तो उनका परिचय प्रसिद्ध क्रांतिकारी श्री शचींद्रनाथ सान्याल से हुआ। सान्यालजी भूमिगत क्रांतिकारी आंदोलन के प्रमुख नेताओं में थे। विदेशों से जो साहित्य नरेंद्रदेवजी के पास आता था वह सान्यालजी को नियमित भेजा जाता था। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज भी इसके वाहकों में थे। उनसे नरेंद्रदेव को क्रांतिकारियों के समाचार और साहित्य मिलता था। और भी कई क्रांतिकारी नेताओं से परिचय था। वे नरेंद्रदेव पर विश्वास करते थे और समय समय पर उनकी सहायता लेते थे।

अतः यह नहीं कहा जा सकता कि वह क्रांतिकारियों के कार्यक्रम में विश्वास नहीं करते थे। अपने संस्मरण में वह कहते हैं, "उस समय कुछ क्रांतिकारियों का विचार था कि आई.सी.एस. में शामिल होना चाहिए ताकि क्रांति के समय हम जिले

1. *राष्ट्रीयता और समाजवाद*, आचार्य नरेंद्रदेव, ज्ञानमंडल लि., वाराणसी, (पुन.), 1973, पृ. 440.

का शासन संभाल सकें। इस विचार से मेरे चार साथी इंग्लैंड गए। मैं भी सन् 1911 में जाना चाहता था, किंतु माताजी की आज्ञा न मिलने के कारण न जा सका।"[1] क्रांतिकारियों से उनका यह गहरा संपर्क बहुत बाद तक बना रहा। उस समय भी जब वह काशी विद्यापीठ में अध्यापन करते थे और उसके प्रधान आचार्य हो गए थे।

विद्यार्थी और अध्यापक का संबंध

युवा नरेंद्र भारतीय संस्कृति की ओर आकृष्ट था। इलाहाबाद के म्योर सेंट्रल कालेज के अध्यापकों में से उसकी विशेषकर दो अध्यापकों से निकटता बनी। डा. गंगानाथ झा संस्कृत के अध्यापक थे और प्रोफेसर ब्राउन इतिहास के। दोनों अपने अपने विषय के प्रसिद्ध विद्वान थे और साथ ही कुशल अध्यापक भी।

नरेंद्रदेवजी, महामहोपाध्याय गोपीनाथ जी कविराज और पंडित हरिरामचंद्र दिवेकर ने जिस श्रद्धा से अपने विदेशी अध्यापकों का उल्लेख किया है उससे उस समय के गुरु-शिष्य संबंधों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। वह तीनों एम.ए. में सहपाठी थे, और प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रेमी तथा पक्के देशभक्त थे। वाराणसी के क्वींस कालेज में इनके कई अध्यापक अंग्रेज थे। फिर भी, दो भिन्न और विपरीत पृष्ठभूमियों की काली छाया गुरु-शिष्य संबंधों पर नहीं पड़ी। जब इन्होंने एम.ए. पास कर लिया तो प्रो. आर्थर वेनिस ने अपने तीनों शिष्यों को शोध और अध्यापन में लगाने में भरपूर सहायता की।

आज स्वतंत्र भारत के पचासवें साल की अपेक्षा पराधीनता के उस काल में एम.ए. की शिक्षा का स्तर कहीं ऊंचा था और एम.ए. संस्कृत के छात्र देशी और विदेशी, अर्वाचीन तथा प्राचीन अनेक भाषाएं सीखते थे। संस्कृत एम.ए. के 'डी' ग्रुप में पुरालेखविद्या, पुरालिपिशास्त्र और मुद्राशास्त्र की भी शिक्षा दी जाती थी। वे अध्यापक भी केवल डिग्रीधारी विद्वान न थे, बल्कि अध्ययनशील और विद्यान्वेषी लोग थे। इन विदेशी अध्यापकों ने अपने भारतीय और राष्ट्रवादी विद्यार्थियों का विश्वास अर्जित कर रखा था। यह जानते हुए भी कि हमारे विद्यार्थी निष्ठावान राष्ट्रवादी हैं वह उनके हितचिंतक और मार्गदर्शक थे। अध्यापकों और विद्यार्थियों के बीच यह स्नेह संबंध आज बीसवीं सदी के नवें दशक में अपने देश में कहां दिखाई देता है। एम.ए. के बाद अध्यापक बनना है या अनुसंधान करना है इसका निर्णय कविराजजी ने अपने अध्यापक प्रो. आर्थर वेनिस पर छोड़ दिया था। अध्यापक का पद मिल रहा था,

---

1. *राष्ट्रीयता और समाजवाद*, आचार्य नरेंद्रदेव, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, (1973 पुन.) पृ. 441.

लाहौर कालेज में भी और अजमेर कालेज में भी, पर कविराज ने वेनिस साहब की सलाह मानकर शोधवृत्ति स्वीकार की। नरेंद्रदेव के पिता वकालत की ओर झुके थे, नौकरी के पक्ष में नहीं थे। वेनिस साहब अजमेर कालेज में अध्यापक पद के लिए नरेंद्रदेव का नाम भेजना चाहते थे। दिवेकरजी को वेनिस साहब की संस्तुति पर इलाहाबाद के म्योर सेंट्रल कालेज में शोधवृत्ति मिल गई और साथ ही वे पंडित गंगानाथ झा के साथ संस्कृत के सहायक अध्यापक हो गए। नरेंद्रदेवजी भी शोध के आकांक्षी थे। पर उस समय शोध के लिए स्थान अति सीमित थे। नरेंद्रदेवजी के संस्मरण में कविराजजी अपने अध्यापकों और पढ़ाई के बारे में जो कुछ कहते हैं उससे पता लगता है कि ये लोग कितने विद्याप्रेमी, जिज्ञासु और मेहनती थे। कविराज जी कहते हैं, "उस समय क्वींस कालेज के अध्यक्ष सुप्रसिद्ध विद्वान डा. आर्थर वेनिस थे जो संस्कृत एवं इंगलिश, दोनों विभागों के अधिष्ठाता भी थे। उन्होंने स्वयं प्राचीन पद्धति के अनुसार वेदांत ग्रंथों का महामहोपाध्याय कैलाशचंद्र, शिरोमणि महामहोपध्याय गंगाधर शास्त्री प्रभृति पंडितों से अध्ययन किया था और उस विषय में उच्च कोटि के विशिष्ट ग्रंथों (जैसे *वेदांतपरिभाषा, पंचपादिका, सिद्धांतलेशसंग्रह, वेदांतसिद्धांत मुक्तावलि* प्रभृति) का अंग्रेजी में निपुणता के साथ अनुवाद भी किया था। डा. वेनिस वर्तमान पाश्चात्य दर्शन के अतिरिक्त प्राचीन ग्रीक दर्शन में भी निष्णात थे। भारतीय प्राचीन इतिहास के क्षेत्र में भी वे प्राचीन शिलालेख, प्राचीन मुद्राविज्ञान (नियोमेजमेटिक्स) प्रभृति विषयों के विशेषज्ञ थे। उनके अतिरिक्त उस समय उस कालेज में अध्यापक नार्मन, अध्यापक लार्डमैन, अध्यापक रेंडल प्रभृति विविध भाषाविज्ञ और संस्कृति विभाग के प्रख्यातनामा विद्वान थे। मैंने डा. वेनिस के निर्देशानुसार संस्कृत एम.ए. के लिए पंचवर्षीय श्रेणी में (पढ़ते समय) षष्ठ वर्ष के लिए 'डी' ग्रुप लेने का संकल्प किया।"[1] इसी लेख में वह एक जगह कहते हैं, "मैंने जिस प्रकार एम.ए. (संस्कृत) में 'डी' ग्रुप लिया था उसी प्रकार नरेंद्र ने भी 'डी' ग्रुप लिया था। उस समय हरिरामचंद्र दिवेकर नाम के एक महाराष्ट्री मित्र थे। हम लोग डाक्टर वेनिस से इपिग्राफी, पैलियोग्राफी तथा नियोमेजमेटिक्स पढ़ते थे। उनके साथ गर्वनमेंट आफ इंडिया के आरकियोलाजिकल डिपार्टमेंट के उच्चतम पदाधिकारियों का विशेष परिचय था। उस डिपार्टमेंट से शिलालेखों का इंक इंप्रेशन (स्याही छाप) आया करता था। डाक्टर साहब और हम तीनों विद्यार्थी इन पर दिन पर दिन परिश्रम करते थे और इस प्रकार

---

1. *आचार्य नरेंद्रदेव जन्मशती ग्रंथ*, संपादक : प्रेम भसीन, मधु लिमये, हरिदेव शर्मा तथा विनोद प्रसाद सिंह, रेडियेंट पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1990, पृ. 62. यह लेख प्रारंभ में *आचार्य नरेंद्रदेव कमेमोरेशन वाल्यूम* में छपा था। जिसका प्रकाशन नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली द्वारा 1971 में हुआ था।

बहुत परिश्रम से उनका पाठोद्धार होता था। इसके अलावा अशोक, कनिष्क प्रभृति प्राचीन भारतीय इतिहास के विषय में उन लेखों पर जो जर्मन, फ्रेंच अथवा इटालियन में प्रकाशित होते थे, हम लोगों का सामूहिक आलोचन चलता था। ब्राह्मीलिपि, कुशाणलिपि, गुप्तलिपि आदि विभिन्न लिपियों के ऐतिहासिक क्रम विकास पर भी आलोचन होता था। इस विषय में निर्दिष्ट मुख्य ग्रंथ जार्ज ब्यूलर का *इंडियन पैलियोग्राफी* था। यह हम लोगों के प्रातःकालीन अध्ययन का विवरण है। अपराह्न समय में प्रो. नार्मन के बंगले में हम लोग जर्मन, फ्रेंच, प्राकृत और पालि पढ़ने के लिए जाते थे।. . . हमें एंडर्सन का *पालि रीडर* नियमित रूप से पढ़ना पड़ता था। इसके अतिरिक्त कभी-कभी मूल पालि ग्रंथ भी बहुत पढ़ते थे।"[1]

वकालत की उपाधि

नरेंद्रदेवजी के पिता को वकालत का पेशा पसंद था। वह चाहते थे कि अध्यापन और शोध के बजाए वह वकालत की परीक्षा दें। नरेंद्रदेवजी की रुचि प्राचीन इतिहास के शोध में थी। पर उसकी सुविधा नहीं मिली तो मजबूरी में उन्होंने वकालत की पढ़ाई की। दो वर्ष की यह पढ़ाई इलाहाबाद में हुई और 1915 में उन्हें एल.एल.बी. की उपाधि मिल गई। संस्कृत में उन्हें द्वितीय श्रेणी मिली थी और उनके मित्र गोपीनाथ (कविराज) को प्रथम श्रेणी। श्री हरिराम दिवेकर को भी द्वितीय श्रेणी मिली थी, लेकिन उनके अंक कुछ अधिक थे। वाराणसी में शोध में एक ही स्थान था और वह गोपीनाथजी को मिल गया। शायद वकालत की ओर जाना ठीक ही हुआ। वकालत एक स्वतंत्र पेशा है और राजनीतिक कार्य करने की दृष्टि से वह अधिक अनुकूल था। इस प्रकार नरेंद्रदेवजी वकील बन गए, और साथ ही सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में सक्रिय भाग लेने लगे।

---

1. आचार्य नरेंद्रदेव जन्मशती ग्रंथ, संपा. प्रेम भसीन, मधु लिमये, हरिदेव शर्मा तथा विनोद प्रसाद सिंह, रेडियेंट पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1990, पृ. 66.

5. वकालत के छह वर्ष

सन् 1915 में नरेंद्रदेवजी ने अपने नगर फैजाबाद में वकालत शुरू की। पिता और बड़े भाई महेंद्रदेव भी वकील थे। नरेंद्रदेव को एक अच्छा वकील बनने में अधिक समय नहीं लगा। दो-तीन साल में ही कुशल, ईमानदार और उदीयमान वकीलों में उनकी गिनती होने लगी। तिस पर भी वकालत में उनका मन न था।

समाजसेवा

सन् 1907 के बाद कांग्रेस नरमदल के हाथ में थी। गरमदल के लोग उसके बाहर थे। गरमदल वास्तव में एक ढीला-ढाला असंगठित समूह था। हुकूमत के दमन के सामने जल्द छिन्न-भिन्न हो गया। बुरा समय देख अनेक गरमदलीय नेता विदेश चले गए। कुछ को देश निकाला कर दिया गया। वहीं वे प्रवासी भारतीयों की सहायता से राजनीतिक साहित्य तथा पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन कर उसे प्रवासी भारतीयों को और भारत में भेजने लगे। दमन से क्रांतिकारी आंदोलन भी शिथिल हो गया। गरमदलीय होने के नाते नरेंद्रदेवजी कांग्रेस से अलग थे। 1914 में यूरोप में विश्वयुद्ध का आरंभ हो गया था। ब्रिटेन भी उसमें शामिल था। उसने संसार में लोकतंत्र की प्रतिष्ठा को युद्ध का ध्येय बताया था जब संयुक्त राज्य अमरीका ने अप्रैल 1917 में मित्र राष्ट्रों की ओर से उसमें भाग लिया तो उसके राष्ट्रपति ने सब राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार की घोषणा की। इससे गरमदल और नरमदल के लोगों में यह आशा जगी कि भारत को भी आत्मनिर्णय का अधिकार मिलेगा। पर क्रांतिकारियों को इन घोषणाओं में विश्वास न था। वह सशस्त्र क्रांति की तैयारी में लग गए। कांग्रेस में एकता 1916 के अंत में स्थापित हुई। नरमदल और गरमदल के लोग फिर एक संगठन तथा एक मंच पर आ गए।

सन् 1915 में फैजाबाद लौटते ही नरेंद्रदेवजी ने अपने पिता द्वारा स्थापित निजी पुस्तकालय का भार संभाल लिया। यह 'गायत्री पुस्तकालय' था। इसे उन्होंने अपनी गतिविधि का केंद्र बनाया। एक संस्कृति संघ का भी गठन किया। उसके द्वारा सामाजिक, साहित्यिक और राजनीतिक विषयों पर गोष्ठियां होने लगीं। 'गायत्री पुस्तकालय' सर्वसाधारण के लिए भी खोल दिया गया। देश-विदेश का क्रांतिकारी

साहित्य और पत्र-पत्रिकाएं चोरी-छिपे आती थीं। इस साहित्य का आदान-प्रदान गुप्त रीति से होता था। अब सामाजिक विज्ञानों से संबंधित साहित्य अधिक मंगाया जाने लगा। इनमें धार्मिक तथा भारतीय संस्कृति के साहित्य के अतिरिक्त समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, दर्शन, इतिहास और राजनीतिशास्त्र आदि के ग्रंथों का स्थान मुख्य था। उनकी वकालत की आमदनी का अधिकांश भाग सार्वजनिक हित के अनेक कामों में और इस पुस्तकालय की संवृद्धि में व्यय होता था।

नरेंद्रदेवजी की एक विशेषता यह थी कि वकालत के अतिरिक्त शैक्षिक, राजनीतिक और सेवागत कार्यों में समय लगाने के बाद वह गंभीर ग्रंथों के अध्यन के लिए पर्याप्त समय निकाल लेते थे। वह एकाग्रचित्त होकर आठ-दस घंटे निरंतर बौद्धिक श्रम कर लेते थे। उनके पुराने सहपाठी आचार्य हरिरामचंद्र दिवेकर लिखते हैं, "बौद्धिक श्रम करने में उनकी बराबरी करने वाला मैंने अभी तक कोई नहीं देखा। विद्यार्थी दशा में उनकी यह शक्ति मैंने देखी। आठ-दस घंटे लगातार अभ्यास करना उनके बाएं हाथ का काम था।"[1] राहुल सांकृत्यायन कहते हैं, "अध्ययन का उन्हें भारी व्यसन था और न जाने कितने विषयों में।"[2]

अनेक निर्धन विद्यार्थियों की फीस वे अपनी जेब से देते थे। निर्धन विद्यार्थियों के लिए उन्होंने अपने घर पर ही पाठ्य पुस्तकों का संग्रह किया था। इस पुस्तकालय में नई पुस्तकों के अलावा मांग कर पुरानी पुस्तकें भी जमा की जाती थीं।

नरेंद्रदेवजी ने होम्योपैथी का अध्ययन एवं अभ्यास भी किया था। वह शुशलर की बायोकेमिक औषधियों से निःशुल्क इलाज करते थे। अपने घर पर ही उनका यह औषधालय था। ठाकुर जयदेव सिंह ने बायोकेमिक चिकित्सा पद्धति उनसे ही सीखी थी।

वह सामाजिक निर्माण और परिवर्तन के नियमों की खोज में थे। इसकी अधिक चर्चा बाद में होगी। यहां इतना कहना आवश्यक लगता है कि इलाहाबाद और वाराणसी में पढ़ते समय ही उन्होंने ज्ञान के रहस्यवादी तथा शब्दप्रमाणवादी आधार को छोड़कर बुद्धिवादी और वैज्ञानिक आधार को अपना लिया था। कर्मकांडी धार्मिक संप्रदायों में उनकी निष्ठा नहीं रह गई थी। इस बारे में पंडित राहुल सांकृत्यायन ने अपने संस्मरणात्मक लेख में इस प्रकार लिखा है :

---

1. *आचार्य नरेंद्रदेव : कमेमोरेशन वाल्यूम* में आचार्य हरिरामचंद्र दिवेकर का संस्मरणात्मक लेख 'एक पुण्य स्मरण', नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली - 1971, पृ. 51. यही लेख 1990 में रेडियेंट पब्लिशर्स, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित *आचार्य नरेंद्रदेव जन्मशती ग्रंथ* में भी छपा है।
2. *आचार्य नरेंद्रदेव जन्मशती ग्रंथ*, रेडियेंट पब्लिशर्स, नई दिल्ली - 1990 में राहुल सांकृत्यायन का लेख - 'आचार्य नरेंद्रदेव', पृ. 61.

"मेरे एक मित्र छपरा के वकील बाबू जानकीशरण साही उनके साथ इलाहाबाद में पढ़ते थे। उस समय आर्यसमाज, राधास्वामी, थियोसाफी और कितने ही पंथों का जोर था। नरेंद्रदेवजी बुद्धिवादी थे और आखिर तक बुद्धिवादी रहे। कितनों के ही ऊपर बुढ़ापे में दूसरा रंग चढ़ा है, पर उनके ऊपर कभी नहीं। इसी कारण उन्हें भूदान पर कभी विश्वास नहीं हुआ, और न मार्क्स के पंथ को छोड़कर कुटिया में समाधि लगाने की इच्छा हुई। अपने कालेज जीवन में वही बुद्धिवाद उनके साथ था। पंथइयों पर व्यंग्य करते एक गोष्ठी बनाकर उन्होंने एक पंथ स्थापित किया था, जिसका नाम रखा 'चोंच पंथ'। 'चोंच पंथ' के पैगंबर आचार्यजी थे। लेकिन इस पंथ के पैगंबर और अनुयायियों में सौ-पचास गज तो दूर दो इंच का भी अंतर नहीं था। सभी हमजोली और समवयस्क थे। जब यह मिलते तो दाहिने हाथ कीं हथेली को चोंच के रूप में बनाकर "जय चोंच भगवान" कहकर परस्पर अभिवादन करते। वह इस बात को शास्त्रों और युक्तियों से सिद्ध करने को तैयार थे कि सभी पंथ अर्वाचीन और दो कौड़ी के हैं, सबसे प्राचीन और महान पंथ 'चोंच पंथ' है।"

प्रथम विश्वयुद्ध की छाया में

जैसा कि पीछे उल्लेख हुआ है 1914-18 के बीच पहला विश्वयुद्ध हुआ। यह विशेषकर यूरोप की साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच था। पर इसका फैलाव व्यापक था। अफ्रीका और एशिया के अनेक देश भी इसकी चपेट में आ गए। भारत जैसे पराधीन देशों की भागीदारी स्वामी देशों द्वारा की गई थी। ब्रिटेन की ओर से भारतीय सेना यूरोप, अफ्रीका तथा एशिया के देशों में युद्ध के मोर्चे पर भेजी गई थी। जैसा कि पहले कहा गया है, 'क्रांतिकारी' दलों को छोड़कर भारत के सभी राजनीतिक दल इस युद्ध में ब्रिटेन के साथ सहयोग करने के पक्ष में थे। तिलकजी न तो युद्ध में सहयोग कर रहे थे और न ही उसका विरोध। वह स्वराज्य की शर्त पर युद्ध में सक्रिय सहयोग देने को तैयार थे। गांधीजी अहिंसा और सत्याग्रह की मर्यादा के अनुसार दुर्दिन में अपने विरोधी की सहायता करने के धर्म का पालन करते हुए युद्ध में बिना शर्त सहयोग करने के पक्ष में थे और धन-जन से साम्राज्य की मदद करने का प्रचार कर रहे थे। नरमदल भारतीयों को शासन में अधिक अधिकार की मांग करते हुए युद्ध में पूर्ण सहयोग कर रहा था। ऐसी दशा में ब्रिटेन को भारत के धन-जन का युद्ध में पूरा सहयोग मिल रहा था। यहां यह याद रखना आवश्यक है कि उस समय तक स्वराज्य का अर्थ था साम्राज्य के अंदर स्वशासन का अधिकार। पर युद्धकाल में जो यह आशा बनी थी कि भारत को स्वशासन की दिशा में व्यापक लोकतांत्रिक अधिकार दिए जाएंगे वह आशा युद्ध समाप्त होते होते निराशा में बदल गई।

इस विश्वयुद्ध के अंतराल में क्रांतिकारियों ने बाहर से भारत में विद्रोह उभारने का प्रयास किया था। 1913 में लाला हरदयाल ने अमरीका में गदर पार्टी गठित की थी। 1915 में जर्मनी में कुछ क्रांतिकारियों ने इंडियन इंडिपेंडेंट कमेटी का गठन किया। जर्मनी और तुर्की की सरकारों ने उनकी मदद की। जर्मनी ने क्रांतिकारियों को हथियार भी दिए और ट्रेनिंग भी दी। इन लोगों ने पश्चिमी एशिया के और दक्षिण पूर्वी एशिया के देशों में हिंदुस्तानी सेना के बंदी सैनिकों को विद्रोह के लिए तैयार करने की बहुत कोशिश की। पर इसमें अधिक सफलता नहीं मिली। अंत में ये लोग निराश हो गए।

राजा महेंद्रप्रताप, श्री बरकतउल्ला एवं मौलाना ओबेदुल्ला सिंधी ने अफगानिस्तान में अस्थायी भारत सरकार बनाई। तुर्की के सुल्तान और इस्लाम के खलीफा ने इस बारे में अफगानिस्तान के अमीर को पत्र दिया था। इसमें देवबंद के मौलवियों का विशेष योग था। इस सरकार ने अफगानिस्तान के अमीर (शासक) के अतिरिक्त रूस, नेपाल आदि देशों की सरकारों से सहयोग लेने का प्रयास किया। पर जर्मनी और तुर्की के सिवा किसी देश ने मदद नहीं की। अफगानिस्तान का शासक अंग्रेजों का पिट्ठू था। उसने सहानुभूति के सिवा कोई ठोस मदद नहीं की, और अस्थायी सरकार के भेद शत्रु को देता रहा। इस सरकार की कई गुप्त योजनाओं का भेद शत्रु को लग गया। अनेक क्रांतिकारी देशभक्त गिरफ्तार कर जेल में डाल दिए गए, अनेक मार डाले गए।

सन् 1916 में नरेंद्रदेव ने फैजाबाद में इंडिपेंडेंस आफ इंडिया लीग (एनी बेसेंट) की जनपदीय शाखा का संगठन किया, इस लीग का मुख्य काम भारत के लिए स्वराज्य की मांग करना और उसके पक्ष में जनजागृति करना था। नरेंद्रदेवजी इस शाखा के मंत्री थे। जवाहरलाल नेहरू इस लीग के प्रांतीय मंत्री थे और श्रीमती एनी बेसेंट राष्ट्रीय अध्यक्ष। इंडिपेंडेंस आफ इंडिया लीग की स्थापना 1915 में लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक और श्रीमती एनी बेसेंट ने मिलकर की थी, परंतु कांग्रेस के कुछ नरमदलीय लोग तिलकज़ी से मिलकर काम नहीं करना चाहते थे। यह देखकर यह निश्चय किया गया था कि भारत के कुछ भागों में तिलकजी की अध्यक्षता वाली लीग काम करे और शेष में श्रीमती एनी बेसेंट की। नरेंद्रदेवजी ने तिलकजी का निर्देश प्राप्त करने के बाद इस शाखा का गठन किया था।

पुनः कांग्रेस में

सन् 1916 में गरमदल और नरमदल वालों में समझौता हो गया। जब तिलकजी फिर कांग्रेस में आ गए तो नरेंद्रदेवजी भी कांग्रेस में शामिल हो गए।

नरमदल और गरमदल न तो संगठित दल थे और न ही सुसंगठित मंच। ये

नाम कांग्रेस के उन नेताओं और कांग्रेसजनों को इंगित करते थे जो अंग्रेजी सत्ता के प्रति दो भिन्न दृष्टिकोण रखते थे और दो भिन्न कार्यपद्धतियों में विश्वास करते थे। गरमदल का उदय वंगभंग के बाद हुआ था। उसके पहले सभी नेता नरमदल के ही समझे जाते थे। तिलकजी, लाला लाजपत राय, अरविंद घोष, विपिनचंद्र पाल गरमदल के मुख्य नेता माने जाते थे। गरमदल और नरमदल का मतभेद अंतिम उद्देश्य को लेकर इतना न था। दोनों पक्ष ब्रिटेनी साम्राज्य के अंदर ही स्वशासन प्राप्त करना चाहते थे। दोनों मानते थे कि स्वशासन का आधार लोकतंत्र होगा। देश के उद्योगीकरण के बारे में मतभेद न था। साम्राज्य सत्ता भी इन उद्देश्यों से लगभग सहमत थी, या बाहरी तौर पर ऐसा दिखावा करती थी। विश्वयुद्ध समाप्त होने के कुछ पहले अगस्त 1917 में ब्रिटेन की सरकार ने यह घोषणा की थी कि ब्रिटेनी साम्राज्य के अंतर्गत उत्तरदायी शासन की व्यवस्था हमारी भारतीय नीति का लक्ष्य है और निकट भविष्य में सुधारों द्वारा प्रांतीय स्तर पर उत्तरदायी व्यवस्था को किसी हद तक जारी किया जाएगा।[1] नरमदल वाले कानून के दायरे में रहकर चुनाव और विधान परिषदों के माध्यम से शासन और प्रशासन में हिंदुस्तानियों की क्रमशः अधिकाधिक भागीदारी प्राप्त कर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ना चाहते थे। उन्हें विश्वास था कि ब्रिटेनी सत्ता भारतीयों को धीरे धीरे इस योग्य बनाकर देर या सबेर स्वशासन की स्थापना कर देगी।

गरमदल वालों का ऐसा विश्वास न था। उनका विश्वास था कि उग्र उपायों और जन आंदोलनों के बिना सार्थक राजनीतिक अधिकारों को प्राप्त नहीं किया जा सकता। तिलकजी बहिष्कार और करबंदी को शांतिमय और वैधानिक मानते थे। महात्मा गांधी की कई नीतियों और कार्यक्रमों से उनकी नीतियों का अधिक साम्य था। पर सबसे बड़ा अंतर यह था कि गांधीजी हर हालत में अहिंसक साधनों से बंधे हुए थे। तिलकजी स्वतंत्रता के लिए अहिंसक साधनों की मर्यादा को स्वीकार नहीं करते थे। यदि संभावना होती तो शायद उन्हें विप्लव और विद्रोह द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त करने में हिचक न होती। यही मत नरेंद्रदेवजी का था। गांधीजी से प्रभावित होने के बाद भी वह मानते थे कि आवश्यक होने पर स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए विप्लव और सशस्त्र विद्रोह सर्वथा उचित एवं नैतिक उपाय है। गांधीजी के निधन के सात साल बाद 1955 में उन्होंने यह घोषित किया कि "आज अणु-युग में हम यह विश्वास करते हैं कि राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय दोनों क्षेत्रों में हिंसा को निषिद्ध करना है।"[2] तो

1. *भारत का राष्ट्रीय आंदोलन*, मुकुटबिहारी लाल, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, 1978, भाग-1, पृ. 421.
2. 'आचार्य नरेंद्रदेव का अध्यक्षीण भाषण', प्रजा सोशलिस्ट पार्टी सम्मेलन, 1955, (अंग्रेजी पाठ), प्रजा सोशलिस्ट पार्टी, नई दिल्ली, 1955, पृ. 9.

भी, 1908 के बाद के अनुभव ने तिलकजी को अपनी रणनीति में परिवर्तन करने को मजबूर किया था। इसका कारण यह था कि न तो क्रांतिकारी और न ही उग्रपंथी राजकीय सत्ता के दमन के सामने देर तक ठहर सके थे। जनता में जो आक्रोश उभरा था वह जल्द शांत हो गया था। उनके मत में उस समय जनता ऐसे उग्र उपायों के लिए तैयार न थी और दृढ़ संगठन का अभाव था। जेल से लौटने के बाद उन्होंने एक ऐसी नरम नीति को अपनाया जो नरमदल की नीति से अधिक भिन्न न थी। पर जब विश्वयुद्ध के बीच राजनीतिक सुधार का प्रस्ताव ब्रिटेन के शासन ने रखा तो उसे स्वीकार करने के सवाल पर नीति संबंधी यह दृष्टिभेद स्पष्ट हो गया। नरमदल के लोगों ने संतोष व्यक्त कर सुधारों का स्वागत किया और गरमदल वालों ने असंतोष व्यक्त कर प्रांतों में तुरंत पूर्ण प्रतिनिधि शासन देने और केंद्र में उस ओर ठोस कदम उठाने की मांग की।

जलियांवाला बाग का हत्याकांड – असहयोग आंदोलन

विश्वयुद्ध समाप्त हो गया था। युद्ध में मित्र राष्ट्र विजयी हुए थे। भारत में ब्रिटेन ने दमन और सुधार की दोहरी नीति पर अमल किया। वह न केवल क्रांतिकारियों से बल्कि कांग्रेस के उग्रपंथियों से भी भयभीत था। वह जन आंदोलनों को क्रांतिकारी आंदोलन से कम भयंकर नहीं मानता था। अतः युद्ध समाप्त होने से पहले ही युद्धकालीन 'भारत सुरक्षा अधिनियम' के जैसा कानून बनाने और साधारण दंड विधान को अधिक कठोर करने की तैयारी शुरू कर दी गई। जब 1919 के आरंभ में रौलेट समिति द्वारा सुझाए गए इस आशय के विधेयक पेश किए गए तो भारत के सभी वर्गों पर इसकी तीव्र प्रतिकूल प्रतिक्रिया हुई। गांधीजी ने इसके विरोध में देशव्यापी हड़ताल करने का आह्वान किया और सत्याग्रह की तैयारी शुरू कर दी। सरकार ने हड़ताल का जवाब कठोरतम दमन से दिया। जनता को शांतिपूर्ण सत्याग्रह का अभ्यास एवं प्रशिक्षण न था। उसने अनेक नगरों में पुलिस के दमन और हिंसा का उत्तर हिंसा से दिया। 13 अप्रैल को जलियांवाला बाग में एक शांतिपूर्ण जनसभा पर सेना ने अंधाधुंध गोली बरसा कर कई सौ लोगों की नृशंस हत्या कर दी। कई हजार लोग घायल हो गए। पंजाब के गवर्नर ने पूरे पंजाब में सेना अधिनियम लागू कर दिया और वहां क्रूर दमन का अपूर्व नंगा नाच हुआ। इन घटनाओं ने पूरे भारत को स्तब्ध और पीड़ित कर दिया। जब गांधीजी ने देखा कि जनता उत्तेजना और दमन का सामना अहिंसक रहकर नहीं कर सकती तो उन्होंने आंदोलन को रोक दिया।

गांधीजी की सोच कुछ और ही थी। वह देश की प्रतिरोधी तथा रचनात्मक शक्तियों को बढ़ाने की बात सोच रहे थे। उन्होंने सोचा कि जब तक यह दो शक्तियां पर्याप्त मात्रा में प्राप्त नहीं कर ली जातीं तब तक स्वराज्य प्राप्ति की आशा नहीं की

जा सकती। दूसरी ओर जब तक भारत ब्रिटेन के औद्योगिक माल की मंडी बना रहेगा तब तक वह भारत को असली स्वतंत्रता देने की बात नहीं सोचेगा। पंजाब और अमृतसर की घटनाओं ने और रौलेट विधेयक ने ब्रिटेन की साम्राज्यशाही के असली चेहरे को उखाड़ दिया था। गांधीजी ब्रिटेनी सत्ता के विरोध में व्यापक जन आंदोलन की तैयारी में पुनः लग गए। उन्होंने विधान परिषदों के चुनाव का बहिष्कार करने का प्रस्ताव कांग्रेस के सामने रखा, और कांग्रेस ने उनका यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

भारत के मुसलमान चाहते थे कि तुर्की के सुलतान की इस्लामी खिलाफत के गौरव की रक्षा के लिए उसके साम्राज्य की अनिवार्य रूप से रक्षा की जाए। मुसलमानों की इस धार्मिक समस्या में गांधीजी की सहानुभूति उनके साथ थी। उन्होंने अंग्रेजी साम्राज्य की विपरीत नीति का विरोध करने के लिए भारत के मुसलमानों से अहिंसक बहिष्कार और असहयोग का उपयोग करने का आह्वान किया और ऐसे आंदोलन का समर्थन करने को कांग्रेस को भी तैयार कर लिया। कांग्रेस ने खिलाफत की रक्षा की मांग को स्वराज की मांग के साथ जोड़ लिया और पहले बहिष्कार और बाद में असहयोग आंदोलन शुरू कर दिया। उधर खिलाफत कांफ्रेंस ने भी ऐसा ही किया।

वकालत का त्याग

नरेंद्रदेवजी चुनाव के बहिष्कार के विरोधी थे। लेकिन जब कांग्रेस ने गांधीजी का प्रस्ताव मानकर बहिष्कार और असहयोग का एलान कर दिया तो नरेंद्रदेवजी ने उसे पूरे मन से स्वीकार कर लिया। तब तक तिलक जी का निधन हो चुका था। अरविंद घोष ने बहुत पहले ही सक्रिय राजनीति का क्षेत्र छोड़ दिया था। इस संबंध में अंतिम सम्मेलन नागपुर में दिसंबर 1920 में हुआ था। वहां असहयोग करने का निर्णय लिया गया। वहीं नरेंद्रदेवजी ने वकालत छोड़ने का निर्णय कर लिया। इतना महत्वपूर्ण निर्णय लेते समय उन्होंने अपने पिताजी से आज्ञा नहीं ली। इसका स्पष्ट कारण यह था कि वह जानते थे पिताजी वकालत छोड़ने के प्रस्ताव से सहमत न होंगे और ऐसी दिशा में उनकी अवज्ञा करने की कठिन समस्या पैदा हो जाएगी।

विद्यार्थी जीवन में ही नरेंद्रदेवजी भारत की स्वतंत्रता के कर्मठ सिपाही बन गए थे। उनकी अंतःप्रेरणा उन्हें उधर ले गई। राजनीति को उनके जीवन का अनिवार्य अंग बनना ही था। उन्होंने नए मानव, नए समाज और नई संस्कृति का स्वप्न देखा था। उन्हें यह विश्वास था कि ऐसा होकर रहेगा। अतः ज्ञान की उनकी पिपासा वैयक्तिक मोक्ष की कामना से उत्पन्न न थी। ज्ञान उनके लिए समस्त मानव जाति के मोक्ष का साधन था। अतः क्रांति के साधनों की खोज उनके सोच और ज्ञान का प्रेरणा स्रोत था। परंपरागत संगठित धर्मों को उन्होंने अपनी खोज और क्रांति में

बाधक तत्व के रूप में देखा और देर किए बिना वह उनकी दासता से मुक्त हो गए। राजनीति के साथ उनके संबंध का यही आधार मालूम होता है, अन्यथा न तो उनके स्वास्थ्य की दशा और न ही उनके व्यक्तित्व की रचना राजनीतिक क्षेत्र के अनुकूल थी।

वह एक ओर कांग्रेस के गरमदल से जुड़े हुए थे और दूसरी ओर क्रांतिकारियों से। परंतु भारत की राष्ट्रीय राजनीति का रंगढंग इस मोड़ पर पहुंचकर बदल रहा था। इसमें तिलकजी की भूमिका नरमदल से अधिक मेल खाती दिखाई दे रही थी। उधर गांधीजी नरम और सहयोगात्मक नीति से हटकर असहयोग, स्वदेशी, बहिष्कार और सविनय अवज्ञा की ओर बढ़ रहे थे। प्रांतीय और केंद्रीय विधान परिषदों का चुनाव होने वाला था। इसमें तिलकजी और गांधीजी दो विपरीत छोरों पर खड़े दिखाई दिए। गांधीजी चुनाव का बहिष्कार करना चाहते थे और तिलकजी चुनाव में भाग लेने के पक्ष में थे। परंतु यह आभास मिल रहा था कि कांग्रेस का बहुमत गांधीजी की राय को स्वीकार कर लेगा। इस संबंध में आचार्यजी ने तिलकजी से मशवरा किया। तिलकजी ने कहा कि कांग्रेस द्वारा चुनाव का बहिष्कार करने पर एक डर यह है कि अवांछनीय लोग जनप्रतिनिधि बनकर विधान परिषदों में पहुंच जाएंगे। उन्होंने नरेंद्रदेवजी से यह भी कहा कि जब तक जनता तैयार न हो असहयोगात्मक और प्रतिरोधात्मक कार्यक्रमों को सफलता के साथ नहीं चलाया जा सकता। उस समय तिलकजी ने यह भी कहा था कि बहुमत के निर्णय को स्वीकार करना ठीक होगा।

किसान आंदोलन में

नरेंद्रदेवजी जैसे ही वकालत से अलग हुए किसान आंदोलन का बुलावा आ गया। अवध में यह आंदोलन कई साल से हो रहा था। किसानों की मुख्य मांग जमींदारों द्वारा किए जा रहे अवैध शोषण और बेदखली को रोकने की थी। बाबा रामचंद्र इस आंदोलन के प्रवर्तक थे। उनके सबल नेतृत्व में यह आंदोलन उत्तर प्रदेश के प्रतापगढ़, रायबरेली, जौनपुर और फैजाबाद जनपदों में फैल गया। नरेंद्रदेवजी अपने कई साथियों के साथ इस आंदोलन में कूद पड़े। वह अच्छे वकील के अतिरिक्त प्रभावशाली वक्ता थे। उन्होंने दूर देहाती क्षेत्रों में जाकर सभाओं में भाषण करना शुरू किया। इन सभाओं में किसानों की भारी भीड़ होती थी। सरकार किसानों के इस जागरण से भयभीत हो गई। पहले उसे दबाने की कोशिश की। सरकार ने किसानों पर गोली चलाकर भयभीत करना चाहा। पर अंत में सरकार को झुकना पड़ा। बेदखली पर रोक लगा दी गई तथा उन्हें हीनहयाती का अधिकार मिल गया।

अवध के इस किसान आंदोलन के सिलसिले में जब एक बार श्री जवाहरलाल नेहरू अकबरपुर आए तो वहां उनकी भेंट आचार्यजी से हुई। जवाहरलालजी ने उनसे काशी विद्यापीठ की स्थापना और उसमें उनकी आवश्यकता की चर्चा की। नरेंद्रदेवजी को यह सुझाव पसंद आया और वह काशी विद्यापीठ में इतिहास के अध्यापक नियुक्त हो गए।

6. स्वतंत्रता संग्राम में

यदि भारत परतंत्र न होता और देश के सम्मुख आत्मसम्मान को चोट पहुंचाने वाली चुनौती न होती तो बहुत संभव था कि नरेंद्रदेवजी जैसा संकोची स्वभाव का व्यक्ति सक्रिय राजनीति में प्रवेश ही न करता। लेकिन वह परतंत्र भारत की चुनौती भरे युग में पैदा हुए थे और ऐसे परिवार में जन्मे थे जो भारत के खोए हुए गौरव को पुनः प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील था।

सन् 1934 तक प्रांतीय तथा अखिल भारतीय स्तर पर उनकी राजनीतिक गतिविधि विचार-विनिमय या संगठनात्मक कार्य तक सीमित थी। खुली जनसभाओं में भाषण बहुत कम। 1918 में ही वह अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य हो गए थे। इतने प्रखर वक्ता और राजनीतिशास्त्र तथा इतिहास के इतने अच्छे जानकार होते हुए भी अपने को उस यश से वंचित रखने में उन्हें कोई परेशानी नहीं हुई जो उन्हें मुखर होने पर अनायास प्राप्त हो सकता था। 1922-23 के बाद वह कई वर्ष तक काशी विद्यापीठ की ओर से प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य रहे। 1926 में जब बाबू शिवप्रसाद गुप्त उत्तर प्रदेश कांग्रेस के अध्यक्ष बने तो प्रांतीय कार्यालय विद्यापीठ में आ गया। संपूर्णानंदजी और श्रीप्रकाशजी तो वहां अध्यापक थे ही। 1927 में वह इंडिपेंडेंस आफ इंडिया लीग की उत्तर प्रदेश शाखा के संगठन मंत्री बने। यह लीग पूर्ण स्वराज्य को कांग्रेस का लक्ष्य बनाना चाहती थी। जब 1930 में लाहौर के सम्मेलन में कांग्रेस ने इस ध्येय को स्वीकार कर लिया तो लीग का काम समाप्त हो गया। श्रीप्रकाशजी 1928 में प्रांतीय कांग्रेस के प्रधानमंत्री हो गए। 1930 में नमक सत्याग्रह के सिलसिले में उनके गिरफ्तार हो जाने पर नरेंद्रदेवजी ने उनका स्थान लिया। आंदोलन की अवधि में प्रांतीय आंदोलन के संचालन का विद्यापीठ केंद्र बन गया था। 30 जून को नरेंद्रदेवजी बस्ती में गिरफ्तार कर लिए गए। बाबू शिवप्रसाद गुप्त और श्री पुरुषोत्तमदास टंडन के साथ उन्हें तीन महीने का कारावास का दंड मिला। विद्यापीठ में पढ़ाई बंद थी और अध्यापक तथा विद्यार्थी सभी आंदोलन में कूद पड़े थे। नरेंद्रदेवजी की गिरफ्तारी के बाद मंत्री का भार विद्यापीठ के तत्कालीन कुलसचिव एवं अध्यापक बीरबल सिंहजी ने लिया। इस तरह क्रम चलता रहा। जब

गांधीजी ने इर्विन समझौते के बाद अवज्ञा आंदोलन बंद कर दिया तब भी विदेशी वस्त्र और मद्यपान के विरुद्ध प्रचार और धरना जारी था।

नरेंद्रदेवजी की पहचान 1934 तक एक ऐसे प्रखर विद्वान के रूप में थी जो देशभक्ति से प्रेरित गांधीजी के नेतृत्व में राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष का एक सिपाही था। 1930 में गांधीजी के नेतृत्व में असहयोग और अवज्ञाभंग का जो आंदोलन शुरू हुआ था वह चढ़ाव और उतार, समझौते और संघर्ष की कई अवस्थाओं को पार करता हुआ 1933 तक अत्यंत शिथिल हो गया था। निराशा और अंधकार की छाया में उसे औपचारिक रूप से जीवित रखा गया, पर वास्तव में वह मृत हो गया था। तब 1934 में स्वराज्य पार्टी का पुनः उदय हुआ। न तो गांधीजी और न ही आचार्य नरेंद्रदेव चुनाव में भाग लेने के पक्ष में थे। पर फूट से बचने के लिए गांधीजी ने मान लिया कि स्वराज पार्टी को चुनाव लड़ने की छूट दी जाए। इस प्रकार स्वराज पार्टी कांग्रेस का एक अंग बनी रही।

जब 1934 की मई में गया के अधिवेशन में कांग्रेस ने स्वराज्य पार्टी के कार्यक्रम को अपनी स्वीकृति दी उसी समय वहीं समाजवादी विचारधारा के लोगों का एक अखिल भारतीय सम्मेलन हुआ। यह सम्मेलन नरेंद्रदेवजी की अध्यक्षता में हुआ। नरेंद्रदेवजी ने ही समाजवादी समूह की ओर से चुनाव की राजनीति का कांग्रेस के अधिवेशन में विरोध किया था। शायद अखिल भारतीय कांग्रेस के किसी सम्मेलन में उन्होंने पहली बार भाषण किया। निःसंदेह समाजवादियों का यह सम्मेलन भारत के स्वतंत्रता संघर्ष की एक महत्वपूर्ण घटना थी। नरेंद्रदेवजी के राजनीतिक जीवन में भी यह वैसी ही महत्वपूर्ण घटना थी। इसके बाद ही वह अखिल भारतीय नेता, विचारक, शिक्षाविद् और प्रखर वक्ता के रूप में सामने आए।

जुलाई 1934 में काशी विद्यापीठ पुनः खुल गया। वहां नियमित पढ़ाई का क्रम आरंभ हुआ। विद्यापीठ में अध्यापक और प्रशासक के रूप में नरेंद्रदेवजी के जो दायित्व थे, उनका निर्वाह करते हुए उन्हें देश की राजनीति में सक्रिय भाग लेना था। नए कांग्रेस समाजवादी दल को अखिल भारतीय स्तर पर संगठित करने का मुख्य भार श्री जयप्रकाश नारायण और अन्य लोगों पर था। पर समाजवाद के सैद्धांतिक पक्ष और समाजवाद की कार्यपद्धति का भारत की तत्कालीन परिस्थितियों से मेल बैठाने का काम जितने कौशल के साथ नरेंद्रदेवजी ने किया वह भारतीय समाजवाद को उनका विशेष योगदान था। यह काम दुनिया के सभी देशों को अपनी विशेष परिस्थितियों और अपनी संस्कृति के संदर्भ में करना था। इस दृष्टि से समाजवाद के विश्वव्यापी आंदोलन के लिए भी भारतीय प्रयोग का महत्व है। उस समय मार्क्सवाद-लेनिनवाद ही समाजवाद का तेजस्वी और प्रखर रूप प्रकट कर रहा था। दुनिया भर की कम्युनिस्ट पार्टियां अपने को उनकी विरासत की सच्ची दावेदार मानती

थीं। भारत में कम्युनिस्ट पार्टी 1924-25 से ही कार्यरत थी। पर नरेंद्रदेव और जयप्रकाश के नेतृत्व में जो समाजवादी दल कांग्रेस दल के अंदर बना उसका रास्ता कम्युनिस्ट पार्टी से भिन्न था। उस समय कम्युनिस्ट पार्टी कांग्रेस और गांधीजी दोनों को नकार रही थी। अतः भारतीय स्वतंत्रता के मुख्य दल कांग्रेस और राष्ट्रवाद के साथ समाजवाद का क्या संबंध हो इसे वैज्ञानिक समाजवादी सिद्धांत के साथ मेल बैठाने का काम कुछ कम महत्व का न था। नरेंद्रदेवजी का अध्यक्षीय भाषण विशेषकर इन दो प्रश्नों पर केंद्रित था।

सन् 1936 में नरेंद्रदेवजी उत्तर प्रदेश की कांग्रेस के अध्यक्ष बने। यह देश के सबसे बड़े प्रांत में समाजवादी विचारधारा की प्रभावशीलता का द्योतक था। उसी वर्ष जवाहरलाल नेहरू कांग्रेस के अखिल भारतीय अध्यक्ष निर्वाचित हुए। उन्होंने कांग्रेस की राष्ट्रीय कार्यसमिति की सदस्यता स्वीकार करने का निमंत्रण आचार्यजी को दिया और वह पहली बार इसके सदस्य बने। इसके अतिरिक्त जयप्रकाश नारायण और अच्युत पटवर्धन भी कांग्रेस की राष्ट्रीय कार्यसमिति में लिए गए। वास्तव में जवाहरलालजी 1928 से ही कांग्रेस के मंच से समाजवाद का प्रचार कर रहे थे। 1934 में यद्यपि वह जेल में बंद थे, लेकिन कांग्रेस के अंदर समाजवादी दल की स्थापना में उनकी सहमति थी। श्री रामवृक्ष बेनीपुरी का कहना है कि "यह बहुत कम लोगों को मालूम है कि जब समाजवादी दल के संगठन के लिए हम पटना में प्रारंभिक सम्मेलन करने जा रहे थे तो पंडित जवाहरलाल नेहरू के ही सत्परामर्श से हमने आचार्यजी को उसका अध्यक्ष चुना था।"[1] 1939 में नरेंद्रदेवजी ने किसान सभा के अखिल भारतीय सम्मेलन की अध्यक्षता की। प्रोफेसर रंगा किसान सभा के उस समय प्रधानमंत्री थे।

विधान सभा में

सन् 1937 के फरवरी महीने में प्रांतीय विधान सभाओं के चुनाव हुए। इसी वर्ष 1935 के संविधान के अंतर्गत उत्तर प्रदेश में कांग्रेस का मंत्रिमंडल बना। पर चूंकि नरेंद्रदेवजी का समाजवादी दल मंत्रिमंडल बनाने के विरुद्ध था, उन्होंने प्रदेश कांग्रेस का अध्यक्ष होते हुए भी मुख्यमंत्री बनने का अपना दावा पेश नहीं किया और इस पद के लिए गोविंद बल्लभ पंत का नाम स्वतः प्रस्तावित किया। जैसा कि प्रो. धुर्जटी प्रसाद मुखर्जी ने कहा है, "उत्तर प्रदेश की सरकार उन्हें अपने से ऊपर मानती थी।"[2]

---

1. *आचार्य नरेंद्रदेव जन्मशती ग्रंथ*, प्रेम भसीन, मधु लिमिये, हरिदेव शर्मा, विनोद प्रसाद सिंह (संपादक), *ज्योतिपुंज आचार्य नरेंद्रदेव*, रामवृक्ष बेनीपुरी, रेडियेंट पब्लिशर्स, कालकाजी, नई दिल्ली, 1990, पृ. 33.
2. *आचार्य नरेंद्रदेव : कमेमोरेशन वाल्यूम*, वी.वी. केसकर और के.एन. मेनन (संपादक), नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली, 1971, पृ. 167.

प्रोफेसर मुखर्जी के अनुसार विधान सभा के उनके भाषण बहुत प्रभावशाली और सारगर्भित माने जाते थे। सचिवालयों के अनेक सचिव भी उनके भाषण का समाचार पाकर विधानसभा भवन की दीर्घा में पहुंच जाते थे। उनके अनेक भाषण जमींदारी और जागीरदारी प्रथा के पोषक मुस्लिम लीग के लोगों को लक्ष्य करके दिए गए थे। वह अकसर सुबोध उर्दू में बोलते थे और मीठा परिहास करने तथा चुटकियां लेने में चूक नहीं करते थे। 1948 और 1952 में उन्होंने सोशलिस्ट पार्टी की ओर से उत्तर प्रदेश में विधान सभा का चुनाव लड़ा, किंतु दोनों बार हार गए। 1952 में और फिर 1954 में राज्य सभा के सदस्य चुने गए।

1939 में त्रिपुरी में सुभाषचंद्र बोस की पुनः अध्यक्षता के विवाद को लेकर कांग्रेस में फूट पड़ गई। वामपंथी तुरंत जन आंदोलन करने की मांग कर रहे थे। समाजवादियों ने सुभाषचंद्र बोस का समर्थन किया। लेकिन जब गांधीजी ने इसे अपने सिद्धांत और नीति की पराजय मानकर एक नया संकट पैदा कर दिया तब सुभाषचंद्र बोस के विरोध में रखे गए प्रस्ताव पर समाजवादी तटस्थ हो गए। फलतः प्रस्ताव पास हो गया। सुभाषजी को त्यागपत्र देना पड़ा। उस समय आचार्यजी ने यह बयान देकर अपनी नीति का स्पष्टीकरण किया था कि साम्राज्यशाही के विरुद्ध कांग्रेस एक संयुक्त मोर्चा है, अतः उसके विखंडन को बचाना सभी साम्राज्य विरोधी लोगों का कर्तव्य है। उन्होंने कहा कि "यह इसलिए भी आवश्यक है कि कोई भी समूह या कई समूह मिलकर भी कोई प्रभावकारी आंदोलन करने की स्थिति में नहीं हैं और कांग्रेस से हटकर हम समझौतावादी लोगों को ही बल प्रदान करेंगे। त्रिपुरी सम्मेलन के पहले श्री सुभाष बोस ने प्रस्ताव किया था कि यदि लोग अध्यक्ष पद आचार्य नरेंद्रदेव जैसे समझौता विरोधी व्यक्ति को देने को तैयार हों तो मैं अपना नाम वापिस ले ले लूंगा।"[1] उसके पहले गांधीजी ने भी नरेंद्रदेवजी को अध्यक्ष बनाने की चर्चा चलाई थी पर गांधीजी के निकट के लोग उनसे सहमत न थे। जवाहरलालजी को भी उस समय किसी समाजवादी को अध्यक्ष बनाने का विचार ठीक नहीं लगा।[2]

---

1. *क्रासरोड्स — बीइंग द वर्क्स आफ सुभाषचंद्र बोस*, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बंबई, 1962 पृ. 92.
2. *सोशलिज्म इन थ्योरी एंड प्रैक्टिस : नरेंद्रदेव कंट्रिब्यूशन*, आशा गुप्ता, न्यू एरा प्रिंटर्स, नई दिल्ली, 1987, पृ. 45, डा. गुप्ता की यह सूचना का स्रोत *द युनिटी आफ इंडिया : कलेक्टेड राइटिंग्स*, 1937-40। एल. ड्रूमंड, लंदन, 1941, पृ. 125-127। यहां जवाहरलालजी लिखते हैं - "नवंबर में जैसे ही मैं यूरोप से लौटा मुझसे कांग्रेस के अध्यक्ष पद के बारे में पूछा गया। जहां तक गांधीजी की बात है वह वस्तुतः किसी समाजवादी को अध्यक्ष बनाने के पक्ष में थे।. . . उन्होंने आचार्य नरेंद्रदेव का नाम लिया। . . .मैं इस समय किसी समाजवादी को अध्यक्ष बनाने के विचार से सहमत न था।"

कांग्रेस और गांधीजी के नेतृत्व में व्यक्तिगत सत्याग्रह अक्तूबर 1940 में आरंभ किया गया और उसके बाद अगस्त 1942 में जनांदोलन शुरू हुआ। यह 'भारत छोड़ो' आंदोलन के नाम से प्रसिद्ध है। इस आंदोलन को लेकर कांग्रेस के नेतृत्व में तीव्र मतभेद था। तत्कालीन कांग्रेस अध्यक्ष मौलाना अबुल कलाम आजाद, पं. जवाहरलाल नेहरू, श्री गोविंदबल्लभ पंत आदि इसका विरोध कर रहे थे। उस समय समाजवादी लोग जन आंदोलन के पक्ष में थे और गांधीजी के साथ थे। नरेंद्रदेवजी उन दिनों बीमारी के कारण गांधीजी के आश्रम में प्रायः तीन महीने रहे। उनका पूरा समर्थन गांधीजी को प्राप्त था। उन दिनों उन्हें गांधीजी से लंबी वार्ता का अवसर मिला। वह बड़ा नाजुक समय था। जापान का हमला आसन्न था। जवाहरलाल और मौलाना आजाद का तर्क था कि हमारा आंदोलन विश्वयुद्ध में मित्र राष्ट्रों की पराजय और फासी-नाजी राष्ट्रों की जीत में निर्णायक हो सकता है और हमें किसी भी दशा में दुनिया पर फासी-नाजी शक्तियों का आधिपत्य स्वीकार नहीं है। गांधीजी का तर्क था कि जापान का आक्रमण ब्रिटिश साम्राज्य और सत्ता के विरुद्ध है न कि भारत के विरुद्ध। यदि ब्रिटेन अपना आधिपत्य हटा ले तो जापान का आक्रमण भी रुक सकता है। उनका यह भी तर्क था कि यदि ब्रिटेन का आधिपत्य समाप्त होने पर भी जापान आक्रमणशील होता है तो हम अपनी रक्षा के लिए मित्र राष्ट्रों से एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में सहयोग कर सकते हैं। गांधीजी का अनुमान था कि असहयोग आंदोलन की दशा में ब्रिटेन कांग्रेस से समझौता करना चाहेगा। पर ऐसा नहीं हुआ। जो आंदोलन गांधीजी के नेतृत्व में शुरू किया गया था उसका कोई कार्यक्रम नहीं बना था। एक प्रकार से वह असंगठित था। फिर भी ब्रिटिश सत्ता के लिए कुछ कम भयावह न था। आंदोलन व्यापक था और उसने जगह जगह तोड़-फोड़ का रूप ले लिया। जनता ने अनेक क्षेत्रों में स्वराजी सरकार बना ली। परंतु अंत में वह दबा दिया गया। तिस पर आग अंदर अंदर ही सुलगती रही। विश्वयुद्ध का अंत हुआ और मित्र राष्ट्रों की विजय तथा धुरी राष्ट्रों की पराजय हुई। साथ ही राजनीतिक साम्राज्यवाद का युग समाप्त हो गया। ब्रिटेन की मजदूर सरकार ने भारत और एशिया तथा अफ्रीका के अनेक पराधीन देशों को स्वतंत्र करने की नीति अपनाई। अन्य साम्राज्यवादी देशों ने ऐसा नहीं किया और उनके अधीन देशों को विद्रोह करना पड़ा। पर साम्राज्यशाही के युग का अंत हो रहा था। आचार्य नरेंद्रदेव ने देखा कि युद्ध की समाप्ति के बाद स्वाधीनता की मांग और विद्रोह की भावना बलवती हो गई। जीतकर लौटी सेना में भी विद्रोह का स्वर गूंजने लगा। इसकी चर्चा उन्होंने 1955 के अपने उस अध्यक्षीय भाषण में की थी जो उन्होंने प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के गया सम्मेलन के लिए लिखा था। उसमें उन्होंने कहा था कि लंबे युद्धों के बाद व्यापक बेरोजगारी, आर्थिक संकट और असंतोष की स्थिति अनिवार्य

रूप से आती है और किसी भी जनक्रांति के लिए यह अनुकूल परिस्थिति होती है। उन्होंने स्वीकार किया था कि अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध जन आंदोलन शुरू करने की दृष्टि से युद्ध के परिणामों की प्रतीक्षा करने की गांधीजी की रणनीति वामपंथियों की अपेक्षा सही थी। लेखक को इसकी व्यक्तिगत जानकारी है कि छपाई को भेजने के पहले आचार्यजी के हस्तलिखित भाषण का संपादन किया गया और यह अंश उससे निकाल दिया गया।

अभी स्वतंत्रता दूर है

युद्ध समाप्त हो गया था। नरेंद्रदेवजी कांग्रेस की राष्ट्रीय कार्यसमिति के अन्य सदस्यों के साथ 1945 में जेल से बाहर आए। इसके बाद सभी नजरबंद नेताओं को धीरे धीरे छोड़ दिया गया। ब्रिटेन में नया चुनाव हुआ और वहां लेबर पार्टी की सरकार बन गई। उसने अधीनस्थ देशों को स्वतंत्रता देने की नीति बनाई। लेकिन समाजवादियों को यह विश्वास नहीं होता था कि लेबर पार्टी भारत को पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान कर देगी। उनका खयाल था कि ब्रिटेन के आर्थिक स्वार्थ ऐसे हैं कि वह उन्हें उस समय तक नहीं छोड़ेगा जब तक वह असहयोग आंदोलन द्वारा विवश न कर दिया जाए। नरेंद्रदेवजी का भी यही मत था कि पूर्ण स्वतंत्रता के लक्ष्य पर पहुंचने के लिए कम से कम एक और जन आंदोलन आवश्यक होगा। जब ब्रिटेन की मजदूर सरकार द्वारा भेजे गए मंत्रिमंडलीय आयोग से हस्तांतरण की बातें चल रही थीं उस समय तक समाजवादी मंचों से उद्घोष कर रहे थे। उनका यह भी विचार था कि ऐसा आंदोलन मुस्लिम लीग के प्रभाव को क्षीण कर भारत के आसन्न विभाजन को भी रोक देगा।

समाजवादियों ने संविधान सभा में शामिल होने से भी इनकार कर दिया था। उनकी आलोचना दो आधारों पर थी, एक तो यह कि संविधान सभा प्रत्यक्ष जनता के मत पर आधारित नहीं है, दूसरे, वह ब्रिटेन की संसद के तत्संबंधी अधिनियम के प्रावधानों से अपने अधिकार में सीमित है, अर्थात उसे अपनी इच्छा के अनुसार संविधान बनाने की स्वतंत्रता नहीं है। वह कांग्रेस की सरकार को क्रांतिकारी सरकार नहीं मानते थे। तो भी नरेंद्रदेवजी की राय थी कि संविधान सभा का बहिष्कार व्यावहारिक दृष्टि से ठीक नहीं है। लेकिन अधिकांश नेता दूसरी भाव धारा में बह रहे थे और आचार्यजी ने बहुमत के निर्णयों को मान लिया। बाद में उन समाजवादियों में से कई ने अपनी भूल को स्वीकार किया।

विरोधी दल की भूमिका

जैसा कि पहले उल्लेख हुआ है, मार्क्सवादी होते हुए भी नरेंद्रदेवजी राष्ट्रीयता के समर्थक थे। स्वतंत्रता प्राप्त होने के बाद उनके सामने समाजवादी समाज का निर्माण

ही एकमात्र समस्या न थी। वह मानते थे कि पूंजीवादी आर्थिक ढांचे के अंदर लोकतांत्रिक प्रणाली की प्रतिष्ठा संभव और वांछनीय है। वह संसदीय प्रणाली के समर्थक थे और उन्होंने अपने दल को लोकतांत्रिक विरोध पक्ष की भूमिका में रखा। अतः कम्युनिस्ट पार्टी की भांति उन्होंने तोड़फोड़ तथा सशस्त्र विद्रोह का रास्ता नहीं अपनाया। उनका मत था कि अर्थव्यवस्था के पूंजीवादी रूप की स्थिति में भी आर्थिक, शैक्षिक और सामाजिक पुनर्निर्माण का कार्य रुकना नहीं चाहिए। पूंजीवादी व्यवस्था के अंदर ही कल्याण राज्य और सामाजिक सुरक्षा के कार्यक्रम पश्चिमी यूरोप के कई देशों की वास्तविकता बन गए थे। इन कार्यक्रमों के सूत्रधार तो वहां के समाजवादी दल थे, पर वह यह काम पूंजीवादी अर्थव्यवस्था को हटाकर नहीं बल्कि उसमें हल्के प्रकार के परिवर्तन द्वारा कर रहे थे। वह लोकतांत्रिक साधनों से ही सत्ता प्राप्त कर समाजवादी समाज की रचना की ओर अग्रसर होना चाहते थे।

इस तरह नरेंद्रदेवजी ने अपनी प्रवृत्ति के अनुरूप राजनीति के साथ शिक्षा के क्षेत्र को अपनी गतिविधि का क्षेत्र बनाया। उनके व्यक्तित्व और स्वभाव में इतनी सामर्थ्य थी कि वह दोनों को एक साथ लेकर चल सकते थे। जब वह राष्ट्र के राजनीतिक मंच पर एक विरोधी दल के नेता के रूप में प्रगट हुए तब भी सरकारी पक्ष का सक्रिय समर्थन काशी विश्वविद्यालय जैसे महत्वपूर्ण शिक्षा केंद्र का कुलपति होने में उन्हें मिला। वह दोनों काम एक साथ कर सके और एक के द्वारा दूसरे को बाधित नहीं होने दिया। यदि कोई बाधा थी तो वह उनका दुर्बल शरीर और स्वास्थ्य था।

लोकतंत्र की मर्यादा का उदाहरण

देश के सांप्रदायिक विभाजन ने हिंदू जनता को सांप्रदायिक द्वेष के खड्ड में धकेल दिया था। इस संकट के समय नरेंद्रदेवजी और उनके समाजवादी साथी कांग्रेस को छोड़ने के पक्ष में न थे। लेकिन स्वयं कांग्रेस के नेतृत्व ने नियम बनाकर समाजवादियों की कांग्रेस सदस्यता पर रोक लगा दी तो सोशलिस्ट पार्टी ने कांग्रेस से अलग हो स्वतंत्र रूप ले लिया। तब अपनी पार्टी को लेकर वह कांग्रेस से बाहर निकल आए। यह 1948 की बात है। उन्होंने लोकतंत्र की उच्चतम मर्यादा की रक्षा करते हुए उत्तर प्रदेश की विधानसभा से त्यागपत्र दे दिया। यों तो, विधानसभा में उनके समर्थकों और अनुयायियों की संख्या बहुत थी, पर जब विधानसभा और कांग्रेस से त्यागपत्र देकर पार्टी के टिकट पर पुनः चुनाव लड़ने का सवाल उपस्थित हुआ तो केवल ग्यारह विधायकों ने उनका साथ दिया। वह सोशलिस्ट पार्टी के उम्मीदवार के रूप में चुनाव के मैदान में उतरे। परंतु वह और उनके सभी साथी चुनाव हार गए। अगस्त क्रांति में अर्जित प्रतिष्ठा भी धरी रह गई। वह पुनः 1952 में विधानसभा का

चुनाव भी हार गए। इतने बड़े त्याग और प्रतिष्ठा के स्वामी की यह दुर्दशा हुई। उन्हें दुर्दशा का कुछ पूर्व अनुमान था। जब कांग्रेस छोड़ने के प्रस्ताव पर बहस हो रही थी तो उन्होंने कहा था कि यह हमारा वनपथ होगा। उन्हें अपनी और अपने साथियों की पराजय से चोट तो अवश्य लगी होगी पर उस समय ऐसा नहीं लगा कि उनका चित्त घायल हुआ है। हां, उनमें अपने उन पुराने कांग्रेसी मित्रों के आचरण के प्रति आश्चर्यमिश्रित क्षोभ अवश्य था जिन्होंने उन्हें चुनाव प्रचार में नास्तिक और अनीश्वरवादी घोषित किया था। इसकी शिकायत उन्होंने अपने किसी सार्वजनिक भाषण में भी की थी। प्रतिद्वंद्वियों ने खुले मंच से जनता में यह प्रचार किया था कि अयोध्या जैसे धर्मक्षेत्र का प्रतिनिधित्व एक नास्तिक कैसे कर सकता है? इतने ओछे रूप के वार करने की उन्हें अपने पुराने मित्रों से उम्मीद न थी। चुनाव के पहले श्री रघुकुल तिलक ने जवाहरलालजी को लिखा था कि रचनात्मक विपक्ष के लिए नरेंद्रदेव के जैसी कुछ विभूतियों के विरोध में कांग्रेस अपने प्रत्याशी न खड़ा करे। परंतु मोरारजी देसाई ने उत्तर दिया कि राजनीति में ऐसी सुविधा संभव नहीं है।

सन् 1948 के मार्च महीने का अंतिम दिन था। उस दिन नरेंद्रदेवजी ने अपने ग्यारह साथियों के साथ विधानसभा की सदस्यता से त्यागपत्र देने के बाद विदाई का जो भाषण दिया, वह भारतीय लोकतंत्र के इतिहास में स्मरणीय रहेगा। उस दिन एक समाजवादी विरोधी दल ने, उसके मार्क्सवादी नेता ने, उच्चतम लोकतांत्रिक मर्यादा का उदाहरण प्रस्तुत किया। जो छोटा-सा भाषण उन्होंने उस अवसर पर प्रस्तुत किया था उसका एक अंश इस प्रकार है :

"यह निर्विवाद है कि जनतंत्र की सफलता के लिए एक विरोधी दल का होना आवश्यक है–एक ऐसा विरोधी दल, जो जनतंत्र के सिद्धांतों में विश्वास करता हो, जो राज्य को किसी धर्मविशेष से संबद्ध न करना चाहता हो, जो गवर्नमेंट की आलोचना केवल आलोचना की दृष्टि से न करे अर्थात जिसकी आलोचना रचना और निर्माण के हित में हो न कि ध्वंस के लिए। . . हम आशा कर सकते हैं कि रचनात्मक विरोधी दल गवर्नमेंट का पूरक होगा।

"संस्थाओं तथा व्यक्तियों के जीवन में ऐसे अवसर आते हैं जब उनको अपने आदर्शों और उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु का भी त्याग करना पड़ता है। हम संतप्त हृदय से अपना पुराना घर छोड़ रहे हैं, किंतु जो अपनी पैतृक संपत्ति है, उससे हम दस्तबरदार नहीं हो रहे हैं। यह संपत्ति भौतिक नहीं है। यह आदर्शों तथा पवित्र उद्देश्यों की संपत्ति है। इस संपत्ति का उत्तराधिकारी न केवल ज्येष्ठ पुत्र होता है और न इस संपत्ति का समविभाग ही होता है। धार्मिक समुदायों

का पर्सनल लॉ अर्थात व्यक्तिगत विधान उस पर लागू नहीं होता। इस संपत्ति का अधिकारी वही हो सकता है जो अपने आचरण और विश्वास से अपने को उसका अधिकारी सिद्ध करे। इसमें मिथ्या गर्व नहीं है। हम अपनी सीमाओं को जानते हैं। हम अपनी कमजोरियों से भी परिचित हैं, किंतु हम यह कहना चाहते हैं कि हम इसके अधिकारी बनने का प्रयत्न करेंगे।"[1]

1. *राष्ट्रीयता और समाजवाद*, आचार्य नरेंद्रदेव, ज्ञानमंडल, वाराणसी, द्वितीय मुद्रण, 1973, पृ. 206-207.

7. समाजवाद की ओर

नरेंद्रदेवजी ने 1919 में रूस की समाजवादी क्रांति का अध्ययन शुरू किया। दो वर्ष में उन्होंने मार्क्सवाद और समाजवाद के सभी उपलब्ध ग्रंथों को पढ़ लिया। इसके बाद जब वह काशी विद्यापीठ में आए तो उन्हें अपने समाजवाद के अध्ययन को और अधिक गहन और विस्तृत करने का अवसर मिला। यहां उन्होंने बौद्ध धर्म और दर्शन का भी गहन अध्ययन किया। 1925 में भारत में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हो गई थी। कांग्रेस के अनेक नेता और कार्यकर्ता समाजवादी विचारधारा से प्रभावित हो रहे थे। जवाहरलालजी भी समाजवादी हो गए थे। 1927 से उन्होंने कांग्रेस के मंच से समाजवाद की चर्चा शुरू कर दी थी। इसके अतिरिक्त सुभाषचंद्र बोस, रफी अहमद किदवई, संपूर्णानंद आदि कांग्रेस के अनेकानेक कार्यकर्ता समाजवाद और मार्क्सवाद की ओर आकृष्ट हो रहे थे। उत्तर प्रदेश की कांग्रेस में समाजवादी विचार के लोगों का प्रभाव इतना अधिक हो गया था कि उसने 1926 में एक प्रस्ताव पास कर यह घोषित किया कि स्वतंत्रता मिलने पर पहला काम जमींदारी प्रथा का उन्मूलन होगा, यद्यपि कांग्रेस उस समय इसके पक्ष में न थी। इसके अतिरिक्त उसने समाजवादी दिशा वाला एक हल्का-सा कार्यक्रम भी प्रस्तुत किया था।

सन् 1930-34 के सत्याग्रह की विफलता ने कांग्रेस के और देश के अन्य लोगों में जिस निराशा को उत्पन्न किया था उसने भी समाजवाद को कुछ अधिक आकर्षक बना दिया था। लेकिन 1925-35 की युवा पीढ़ी के समाजवाद की ओर आकृष्ट होने का एक सबसे बड़ा कारण 1917 की रूसी साम्यवादी क्रांति थी। रूस में सोशल डेमोक्रेटिक लेबर पार्टी (सामाजिक जनतांत्रिक श्रमिक दल) के नेतृत्व में जनता ने सशस्त्र विद्रोह कर जारशाही के साथ ही पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का भी अंत कर दिया था। भारत में अनेक लोग सत्याग्रह की विफलता से निराश होकर विप्लव और सशस्त्र क्रांति की बात फिर सोचने लगे थे। वैज्ञानिक समाजवाद की रणनीति में सशस्त्र विद्रोह द्वारा सत्ता पर अधिकार करने की तीक्ष्ण धार थी। इसके अतिरिक्त साम्यवादी रूस पूंजीवाद के साथ ही साम्राज्यवाद का भी शत्रु माना जाता था। इस नाते भी साम्यवादी रूस के साथ भारत के युवा वर्ग का झुकाव और सहानुभूति हो

गई थी। 1929-34 की विश्वव्यापी मंदी और आर्थिक संकट की मार भी पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के विकृत रूप को उद्घाटित कर रही थी। अतः उद्योगीकरण की पूंजीवादी व्यवस्था पर से युवा पीढ़ी का विश्वास उठ रहा था। पुरानी पीढ़ी के अधिकतर लोग या तो गांधीजी के साथ थे या कांग्रेस की नरमदलीय शाखा 'स्वराज्य पार्टी' के साथ, जिसका कार्यक्रम था चुनाव में भाग लेकर प्रादेशिक और केंद्रीय विधानसभाओं में पहुंचना। बीच की पीढ़ी के कुछ लोग समाजवादी हो गए थे। इसमें अधिकांश मार्क्सवादी थे। इन लोगों में नरेंद्रदेव, जवाहरलाल नेहरू, संपूर्णानंद, रफी अहमद किदवई जैसे लोग चालीस पार कर अधेड़ अवस्था में पहुंच गए थे। 1929 में जयप्रकाश नारायण अमरीका में शिक्षा प्राप्त कर भारत लौटे थे। वह वहां कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य थे। पर भारत के कम्युनिस्टों की नीति से सहमत न थे, जो सोवियत रूस की कम्युनिस्ट पार्टी और साम्यवादी अंतर्राष्ट्रीय संघ के निर्देश पर राष्ट्रीय कांग्रेस का विरोध कर रहे थे। 1931 की जनवरी में जब उनकी भेंट नरेंद्रदेवजी से हुई तो उन्होंने देखा कि नरेंद्रदेवजी न केवल मार्क्सवादी हैं बल्कि मार्क्सवाद और समाजवाद के गहन अध्येता भी। उन्होंने यह भी देखा कि नरेंद्रदेवजी कांग्रेस के मंच से ही राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष करने के पक्ष में हैं। बाद में जयप्रकाश नारायण ही कांग्रेस समाजवादी पार्टी के मंत्री और मुख्य संगठनकर्ता हुए।

पूर्वस्थापना सम्मेलन

सन् 1930-34 के सत्याग्रह की विफलता समाजवादी विचार के लोगों को विकल कर रही थी और यह विकलता उन्हें कम्युनिस्ट पार्टी से अलग समाजवाद की एक अन्य पार्टी बनाने को प्रेरित कर रही थी। वस्तुतया कई प्रदेशों में 1930 के बाद से ही छोटे छोटे समाजवादी समूह बन गए थे। जयप्रकाशजी ने इन लोगों से मिलकर यह निर्णय किया कि मई, 1934 में गया में हो रहे कांग्रेस के सम्मेलन के समय समाजवादियों का एक सम्मेलन किया जाए और उसमें एक नया अखिल भारतीय समाजवादी संगठन बनाने पर विचार किया जाए। इस सम्मेलन की अध्यक्षता के लिए नरेंद्रदेवजी को चुना गया। पद की लालसा से दूर रहने वाले नरेंद्रदेव को अध्यक्षता के लिए तैयार करने का काम जयप्रकाशजी ने किया। उनके नाम का सुझाव जवाहरलाल नेहरू ने दिया था। जब गया में यह सम्मेलन हुआ तो जवाहरलालजी जेल में थे। यद्यपि वह उस कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के स्वयं सदस्य नहीं बने जिसके गठन के लिए यह सम्मेलन हुआ था, लेकिन इस तरह के संगठन की आवश्यकता को वह अनुभव कर रहे थे और सम्मेलन को उनका समर्थन प्राप्त था।

अध्यक्षीय भाषण

आचार्यजी का यह भाषण कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण माना गया है। इसने समाजवाद के कई उलझे प्रश्नों का उत्तर वैज्ञानिक समाजवादी दृष्टि से प्रस्तुत किया। दूसरे, इसने लीक से हटकर राष्ट्रीयता के साथ समाजवाद के संबंध को नई दिशा दी। उस समय यह माना जाता था कि राष्ट्रीयता के साथ वैज्ञानिक समाजवाद का मेल नहीं बैठता। एक अन्य आपत्ति यह उठाई जा रही थी कि जमींदारों और पूंजीपतियों के हितों की रक्षक पार्टी (कांग्रेस) की छत्रछाया में कोई समाजवादी दल कैसे काम कर सकता है। रूढ़िवादी कांग्रेसजनों को यह डर था कि मजदूरों और किसानों को वर्गीय आधार पर संगठित करने से राष्ट्रीय मोर्चे में दरार पड़ जाएगी और राष्ट्रीय आंदोलन जमींदार तथा पूंजीपति वर्गों की सहानुभूति एवं सहायता से वंचित हो जाएगा। कुछ कांग्रेसजनों ने यह शंका भी व्यक्त की थी कि अंतर्राष्ट्रीयतावाद के समर्थक होने के कारण समाजवादियों की राष्ट्रीय निष्ठा पर भरोसा नहीं किया जा सकता। इस प्रकार समाजवादियों पर दो ओर से प्रहार हो रहे थे। एक ओर भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के लोग थे। यह लोग रूस की कम्युनिस्ट पार्टी और तृतीय कम्युनिस्ट अंतर्राष्ट्रीय संघ के नेतृत्व को स्वीकार करते थे। उस समय इस अंतर्राष्ट्रीय संघ का निर्देश यह था कि पराधीन देशों में भी कम्युनिस्ट पार्टियां अपने नेतृत्व में साम्राज्यशाही के विरुद्ध मोर्चा बनाएं और उसमें पूंजीवादी मध्यमवर्गीय पार्टियों के साथ संयुक्त मोर्चा न बनाकर उनका विरोध करें। दूसरी ओर कांग्रेस के वह लोग थे जिन्हें डर था इससे राष्ट्रीय स्वतंत्रता के संघर्ष में दरार पड़ जाएगी। नरेंद्रदेवजी ने इन सभी प्रश्नों का उत्तर बड़ी योग्यता से दिया, जिससे यह स्पष्ट हो गया कि उनका राजनीति और समाजवाद का ज्ञान गहरा है और उनकी समाजवादी दृष्टि में पर्याप्त लोचशीलता है।

उन्होंने कहा कि भारत की वर्तमान स्थिति में कांग्रेस देश के स्वतंत्रा संघर्ष का प्रभावी मंच है। इसे भारतीय जनता के प्राय: सभी वर्गों का समर्थन प्राप्त है। कांग्रेस की उपेक्षा या विरोध कर स्वतंत्रता का प्रभावी संघर्ष यहां संभव नहीं है। यदि यह मान भी लिया जाए कि कांग्रेस भारत के पूंजीपति वर्ग के हितों की रक्षक है तो भी विदेशी सत्ता के शोषण और शासन से देशी पूंजीवाद हर प्रकार से अच्छा है। कम्युनिस्टों को उत्तर देते हुए उन्होंने आगे कहा कि पराधीन देशों में समाजवादी समाज की स्थापना के पहले राष्ट्रीय स्वतंत्रता आवश्यक है और भारत में यह काल वास्तव में 'मध्यमवर्गीय पूंजीवादी क्रांति' का काल है। यद्यपि कांग्रेस आजादी की लड़ाई राष्ट्रीय स्वतंत्रता और जनतंत्र के नाम पर लड़ रही है, लेकिन वह अपने संघर्ष को अधिक व्यापक बनाने के लिए व्यापक जनता का सहयोग लेने को अधिकाधिक विवश होगी और वह किसानों तथा श्रमिकों के आर्थिक हितों की देर तक उपेक्षा न

कर सकेगी। उन्होंने यह भी कहा कि हाल के विश्वव्यापी संकट ने पूंजीवादी व्यवस्था के खोखलेपन को उजागर कर दिया है। यह आवश्यक नहीं रह गया है कि समाजवादी क्रांति विकसित देशों में पहले हो। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था ने साम्राज्यशाही के रूप में विश्वव्यापी रूप ले लिया है। इस शृंखला में जो कड़ी दुर्बल होगी वह पहले टूटेगी। अतः इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि भारत जैसे अविकसित देश में उद्योग प्रधान देशों से पहले भी समाजवादी क्रांति हो सकती है। उन्होंने स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया कि शोषित वर्ग होने के कारण स्वतंत्रता के संघर्ष में किसान वर्ग की भूमिका क्रांतिकारी है, और वह समाजवादी क्रांति का भी सबल साधन बन सकता है। उन्होंने कहा कि यह तभी संभव है जब भारत के किसानों और श्रमिकों को उनके आर्थिक हितों के आधार पर संगठित किया जाए। जिन लोगों को राष्ट्रीय संयुक्त मोर्चे में दरार पड़ने का भय था उनसे उन्होंने कहा कि जमींदार और पूंजीपति वर्ग के लोग पहले ही अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए साम्राज्यवाद से हाथ मिला रहे हैं। साम्राज्यशाही उन्हें छोटा भाई बनाकर अपनी बगल में लेने को तैयार है। ऐसी दशा में इन वर्गों से शक्ति प्राप्त करने की आशा बेकार है। अंत में उन्होंने कहा कि भारत की वर्तमान स्थिति में समाजवादी लोग कांग्रेस के अंदर रहकर काम कर सकते हैं और राष्ट्रीय संघर्ष को समाजवाद से जोड़ सकते हैं। उन्होंने बौद्धिक वर्ग के लोगों की भूमिका की विशेष चर्चा की और कहा कि समाजवादी विचार को समझने की क्षमता रखने के कारण वह समाजवादी क्रांति के विचार के मुख्य वाहक हैं और उसमें वर्गीय स्वार्थ से ऊपर उठने की क्षमता है।

समाजवादी आंदोलन में भूमिका

आचार्य नरेंद्रदेव न केवल समाजवादी आंदोलन के बल्कि राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष और कांग्रेस के शीर्ष नेताओं में थे। किंतु समाजवादी आंदोलन में और विशेषतया भारतीय कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी में उनकी मुख्य भूमिका वैचारिक थी। साथ ही वह युवकों की मंडली में एक वरिष्ठतम नेता थे जो पार्टी के शीर्ष नेताओं के मतभेदों को शांत करते रहते थे। जयप्रकाशजी ने उनकी मृत्यु के 13 वर्ष बाद उनके बारे में यह ठीक ही कहा था कि वह 'निस्संदेह विश्वव्यापी समाजवाद के एक बड़े नेता और विचारक थे।'[1] 1934 में जब उन्हें समाजवादी विचार वाले लोगों के अखिल भारतीय सम्मेलन की अध्यक्षता के लिए आमंत्रित किया गया था तब उनकी अवस्था 45 वर्ष थी, लेकिन उस समय के समाजवादियों में वह सबसे अधिक उमर वाले थे। जवाहरलाल नेहरू उनके समवयस्क थे और केवल 15 दिन छोटे थे। संपूर्णानंद प्रायः छह महीने

---

1. *आचार्य नरेंद्रदेव : युग और नेतृत्व*, मुकुटविहारी लाल, आचार्य नरेंद्रदेव समाजवादी संस्थान, 1970, पृ. 14, जयप्रकाश नारायण की प्रस्तावना।

छोटे थे। जवाहरलालजी समाजवादी पार्टी में शामिल नहीं हुए और संपूर्णानंदजी 1937 में पार्टी से अलग हो गए। नरेंद्रदेवजी अपने चरित्र और व्यक्तित्व के कारण भी नेताओं के मनमुटाव और मतभेदों को शांत करने में विशेष सक्षम थे।

यह याद रखने की बात है कि उस समय रूस जैसे बड़े राष्ट्र में साम्यवादी क्रांति ने समाजवाद को नई प्रतिष्ठा और शक्ति प्रदान की थी। एशिया, अफ्रीका और दक्षिण अमरीका के देशों को समाजवाद का मार्क्सीय सिद्धांत अधिक रास आया, क्योंकि इसमें उन्हें शोषणपरक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था और साम्राज्यशाही सत्ता को नष्ट करने की शक्ति का आभास मिल रहा था। साम्राज्यवादी रूस पूंजीवादी देशों का शत्रु समझा जाता था और साम्राज्यवाद का विरोधी। उस समय आशा की जा रही थी कि यूरोप में एक के बाद दूसरे देश में जल्द ही समाजवादी क्रांति होगी और दुनिया से पूंजीवादी व्यवस्था के साथ साम्राज्यशाही का अंत हो जाएगा। भारत में भी जो कांग्रेस समाजवादी पार्टी बनी उसने सिद्धांत में वैज्ञानिक समाजवाद को अपना आधार बनाया।

आचार्य नरेंद्रदेव भी मार्क्सवादी थे, और जीवन भर मार्क्सवादी रहे। लेकिन प्रारंभ से ही वह मार्क्सवाद को एक लोचशील वैज्ञानिक सिद्धांत के रूप में स्वीकार करते थे। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद अथवा ऐतिहासिक विकासवाद मानव समाज की व्याख्या एवं विश्लेषण का मार्क्सवादी सिद्धांत था। यह सिद्धांत आचार्यजी को स्वीकार था। अतः मार्क्सवाद को उन्होंने समाज की व्याख्या के विश्लेषण की एक वैज्ञानिक पद्धति के रूप में स्वीकार किया और मार्क्स की निष्पत्तियों को उसकी पद्धति से अलग करके देखा। प्रारंभ में वह समाजवादी क्रांति को सशस्त्र क्रांति द्वारा करने में विश्वास करते थे। किंतु बाद में शांतिमय और लोकतांत्रिक साधनों का प्रतिपादन किया। अपने मरने के पहले 1955 के अंत में उन्होंने समाजवादी राज्य सत्ता या किसी भी प्रकार की राजनीतिक सत्ता को प्राप्त करने में हिंसक उपायों का त्याग करने की घोषणा की। आंरभ में वह कृषि के क्षेत्र में भी राष्ट्रीयकरण और सामूहिकीकरण के समर्थक थे। परंतु जब उन्होंने देखा कि रूस में कृषि के सामूहिकीकरण का परिणाम बुरा हुआ है तो उन्होंने कृषि के सामूहिकीकरण और राजकीयकरण को अमान्य कर दिया। तब उन्होंने व्यक्तिगत खेती को स्वैच्छिक सहकारिता के आधार पर करने का सुझाव किया।

प्रारंभ में कार्ल मार्क्स की इस नीति से भी वह सहमत थे कि प्रतिक्रांति की शक्तियों के सिर उठाने की दशा में यह आवश्यक हो जाएगा कि सर्वहारा का अधिनायकत्व स्थापित किया जाए। लेकिन जब साम्यवादी रूस ने सर्वहारा के अधिनायकत्व के नाम पर पहले पार्टी का और तदनंतर व्यक्ति का अधिनायकत्व स्थापित किया और फिर वह लोकतंत्र की ओर नहीं लौटा तो आचार्यजी को सर्वहारा

की तानाशाही पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता महसूस हुई। तब उन्होंने रूस की लंबित तानाशाही की निंदा की और सर्वहारा के अधिनायकत्व की पुनर्व्याख्या प्रस्तुत की। उन्होंने कहा कि सर्वहारा के अधिनायकत्व का यह अर्थ नहीं है कि साधारण नागरिकों के लोकतांत्रिक अधिकारों और स्वतंत्रता को भी स्थगित कर दिया जाए। एक तो ऐसा अधिनायकत्व अल्पकाल के लिए होना चाहिए और दूसरे, इस काल में भी श्रमिकों और किसानों के राजनीतिक दलों को विरोध पक्ष की भूमिका के लिए स्वतंत्रता मिलनी चाहिए और समाजवादी लोकतंत्र में भी बहुदलीय संसदीय लोकतंत्र आवश्यक है।

उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया कि सशस्त्र क्रांति या विद्रोह उसी दशा में किया जा सकता है जब पूंजीवादी अर्थव्यवस्था चरमरा गई हो, साधारण जनता में व्यापक बेचैनी फैल गई हो और सत्ता परिवर्तन का लोकतांत्रिक मार्ग बंद कर दिया गया हो। लेकिन 1955 तक आते आते उन्होंने सशस्त्र क्रांति के मार्ग का सर्वथा त्याग करने की सलाह दी। नरेंद्रदेव जी ने समाजवादी दलों में आंतरिक जनतंत्र को भी आवश्यक बताया और लेनिन द्वारा प्रतिपादित लोकतांत्रिक केंद्रीयतावाद को अस्वीकार कर दिया। शुरू में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी सक्रिय कार्यकर्ताओं का संगठन थी। 1949 में उसकी सदस्यता साधारण जन के लिए खोल दी गई।

उन्होंने वर्गसंघर्ष की प्रक्रिया को लोकतांत्रिक प्रक्रिया में ढालने का प्रयास किया और कहा कि लोकतांत्रिक प्रक्रिया द्वारा सामाजिक क्रांति के उद्देश्यों को पूरा करना अधिक समीचीन है। सत्याग्रह को उन्होंने वर्गसंघर्ष का एक साधन माना और रचनात्मक कार्य को समाजवादियों के लिए आवश्यक बताया। इस सब के पीछे दृष्टि यह है कि लोकतंत्र की सफलता का दायित्व समाजवादी विचार के लोगों का भी उतना ही है जितना सत्ता पक्ष का। अतः जनता के कष्टों को बढ़ाकर या पूंजीवादी व्यवस्था में जानबूझकर संकट उपस्थित कर समाजवादी क्रांति को प्रशस्त करने का मार्ग भी छोड़ दिया गया। 1953 में प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के कुछ नेताओं का यह विचार था कि भारत जैसे दरिद्रतापीड़ित और रूढ़िवादी पिछड़े देश में यदि संसदीय लोकतांत्रिक प्रणाली के कारण आर्थिक विकास बाधित हो जाए तो लोकतांत्रिक प्रणाली पर से जनता का विश्वास उठ जाएगा। वह चाहते थे कि नियोजन और रचना के कामों में सरकारी दल और विरोधी दलों के बीच सहयोग का क्षेत्र बने। उस समय अशोक मेहता इस विचार को विशेष रूप से प्रस्तुत कर रहे थे। उस वर्ष तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने सरकार में भागीदारी करने का निमंत्रण समाजवादियों को दिया था। श्री जयप्रकाश नारायण इस प्रस्ताव के पक्ष में थे। पर नरेंद्रदेवजी इस विचार से सहमत न थे। उस समय उन्होंने कहा था कि मैं सीमित क्षेत्र में सरकार से सहयोग करने के पक्ष में हूं, लेकिन मैं इस पक्ष में नहीं हूं कि समाजवादी सरकार



आचार्य नरेंद्रदेव

की तानाशाही पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता महसूस हुई। तब उन्होंने रूस की लंबित तानाशाही की निंदा की और सर्वहारा के अधिनायकत्व की पुनर्व्याख्या प्रस्तुत की। उन्होंने कहा कि सर्वहारा के अधिनायकत्व का यह अर्थ नहीं है कि साधारण नागरिकों के लोकतांत्रिक अधिकारों और स्वतंत्रता को भी स्थगित कर दिया जाए। एक तो ऐसा अधिनायकत्व अल्पकाल के लिए होना चाहिए और दूसरे, इस काल में भी श्रमिकों और किसानों के राजनीतिक दलों को विरोध पक्ष की भूमिका के लिए स्वतंत्रता मिलनी चाहिए और समाजवादी लोकतंत्र में भी बहुदलीय संसदीय लोकतंत्र आवश्यक है।

उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया कि सशस्त्र क्रांति या विद्रोह उसी दशा में किया जा सकता है जब पूंजीवादी अर्थव्यवस्था चरमरा गई हो, साधारण जनता में व्यापक बेचैनी फैल गई हो और सत्ता परिवर्तन का लोकतांत्रिक मार्ग बंद कर दिया गया हो। लेकिन 1955 तक आते आते उन्होंने सशस्त्र क्रांति के मार्ग का सर्वथा त्याग करने की सलाह दी। नरेंद्रदेव जी ने समाजवादी दलों में आंतरिक जनतंत्र को भी आवश्यक बताया और लेनिन द्वारा प्रतिपादित लोकतांत्रिक केंद्रीयतावाद को अस्वीकार कर दिया। शुरू में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी सक्रिय कार्यकर्ताओं का संगठन थी। 1949 में उसकी सदस्यता साधारण जन के लिए खोल दी गई।

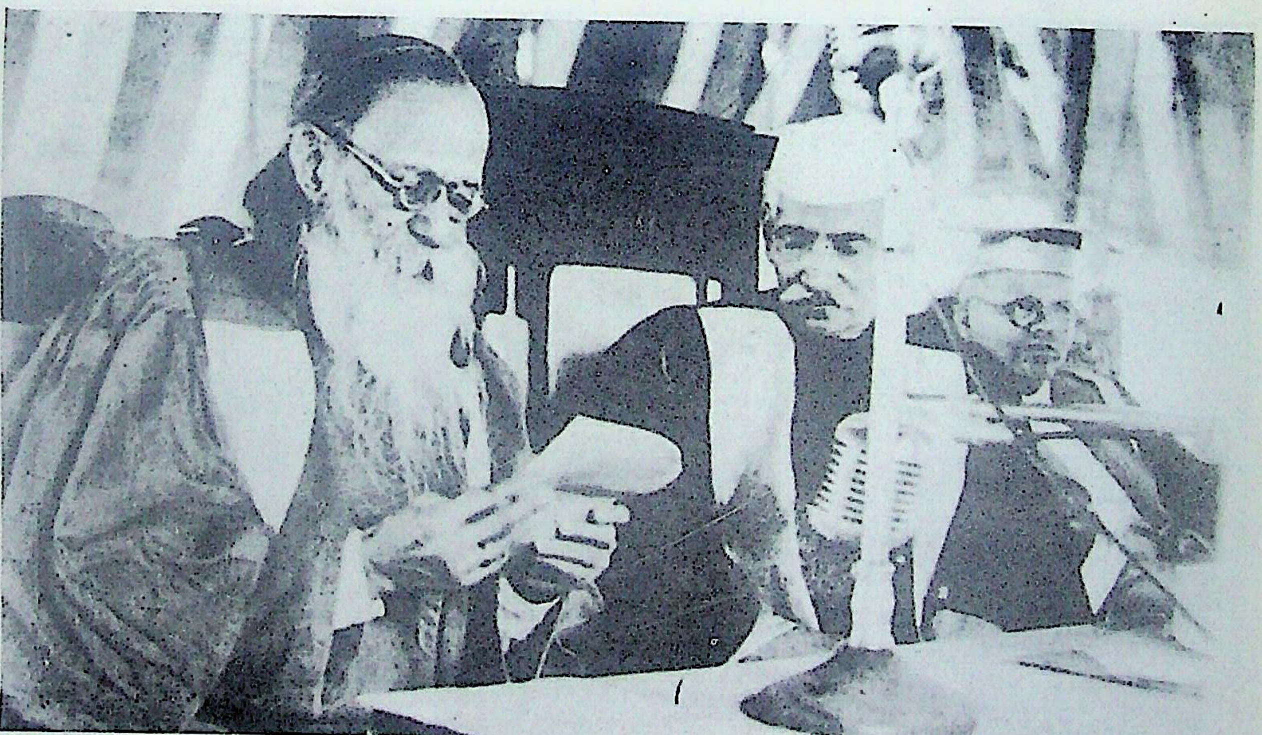
उन्होंने वर्गसंघर्ष की प्रक्रिया को लोकतांत्रिक प्रक्रिया में ढालने का प्रयास किया और कहा कि लोकतांत्रिक प्रक्रिया द्वारा सामाजिक क्रांति के उद्देश्यों को पूरा करना अधिक समीचीन है। सत्याग्रह को उन्होंने वर्गसंघर्ष का एक साधन माना और रचनात्मक कार्य को समाजवादियों के लिए आवश्यक बताया। इस सब के पीछे दृष्टि यह है कि लोकतंत्र की सफलता का दायित्व समाजवादी विचार के लोगों का भी उतना ही है जितना सत्ता पक्ष का। अतः जनता के कष्टों को बढ़ाकर या पूंजीवादी व्यवस्था में जानबूझकर संकट उपस्थित कर समाजवादी क्रांति को प्रशस्त करने का मार्ग भी छोड़ दिया गया। 1953 में प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के कुछ नेताओं का यह विचार था कि भारत जैसे दरिद्रतापीड़ित और रूढ़िवादी पिछड़े देश में यदि संसदीय लोकतांत्रिक प्रणाली के कारण आर्थिक विकास बाधित हो जाए तो लोकतांत्रिक प्रणाली पर से जनता का विश्वास उठ जाएगा। वह चाहते थे कि नियोजन और रचना के कामों में सरकारी दल और विरोधी दलों के बीच सहयोग का क्षेत्र बने। उस समय अशोक मेहता इस विचार को विशेष रूप से प्रस्तुत कर रहे थे। उस वर्ष तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने सरकार में भागीदारी करने का निमंत्रण समाजवादियों को दिया था। श्री जयप्रकाश नारायण इस प्रस्ताव के पक्ष में थे। पर नरेंद्रदेवजी इस विचार से सहमत न थे। उस समय उन्होंने कहा था कि मैं सीमित क्षेत्र में सरकार से सहयोग करने के पक्ष में हूं, लेकिन मैं इस पक्ष में नहीं हूं कि समाजवादी सरकार



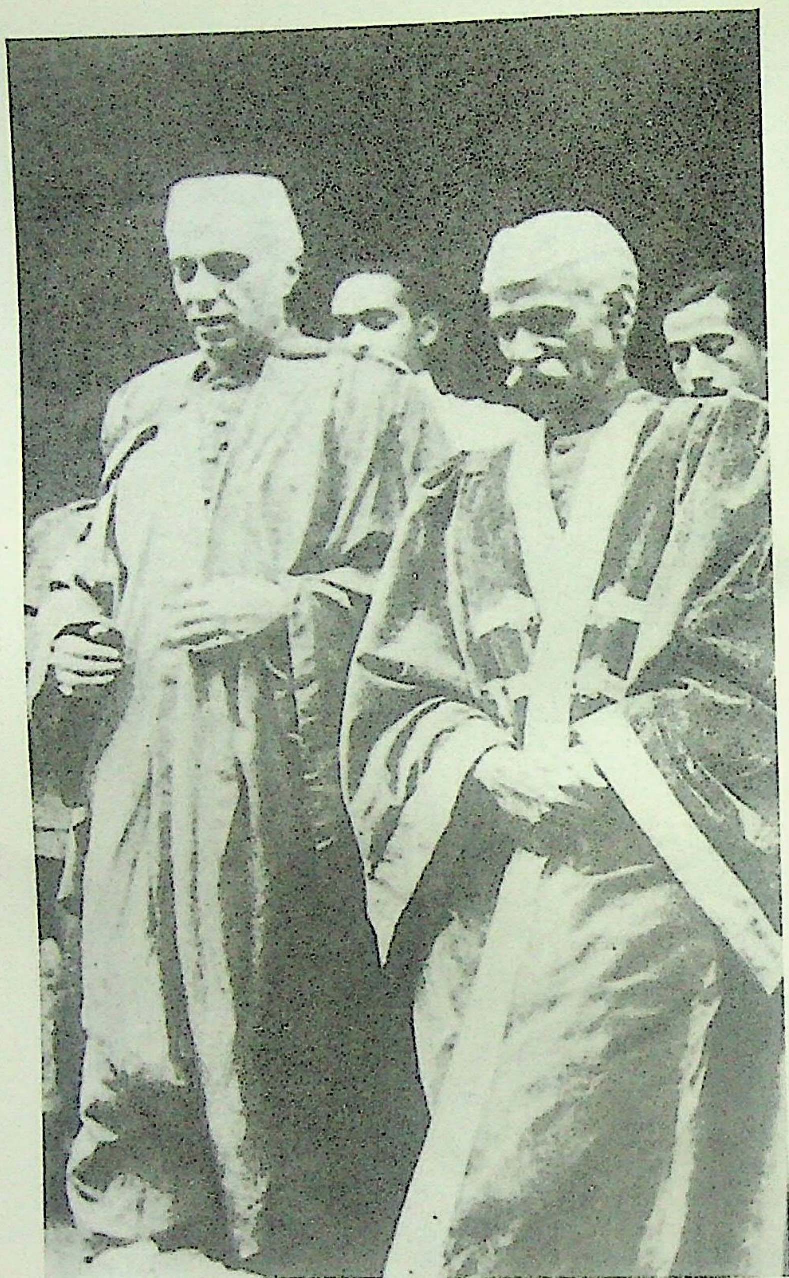
आचार्य नरेंद्रदेव



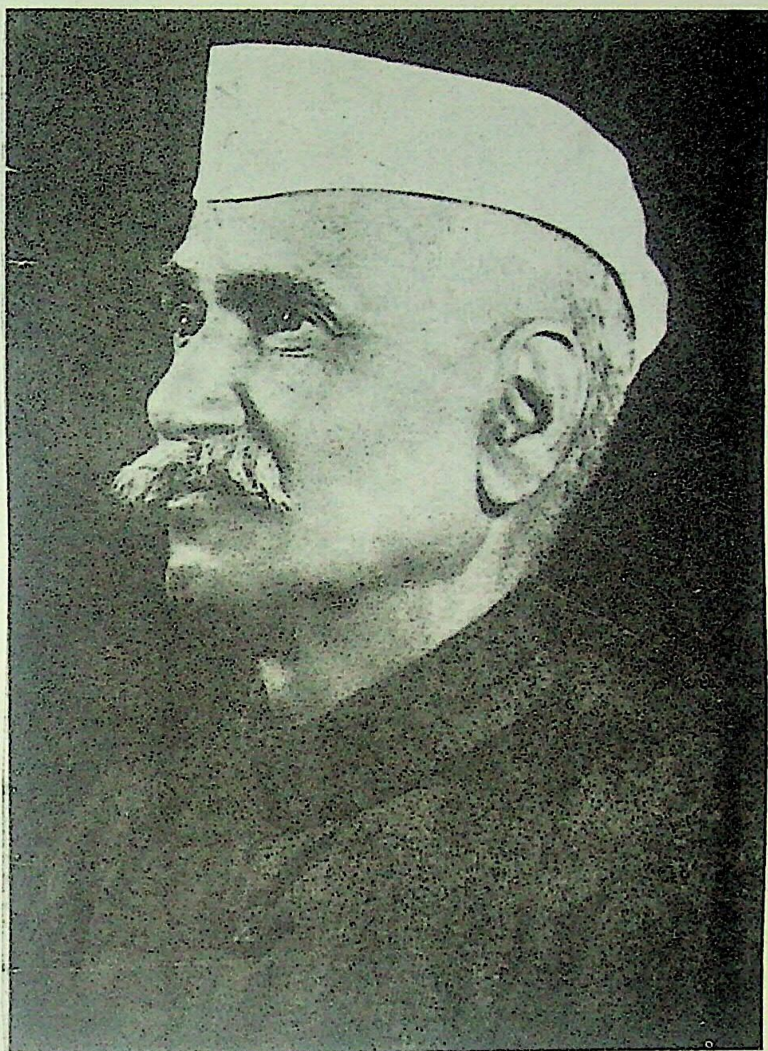
आचार्य जी और प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू



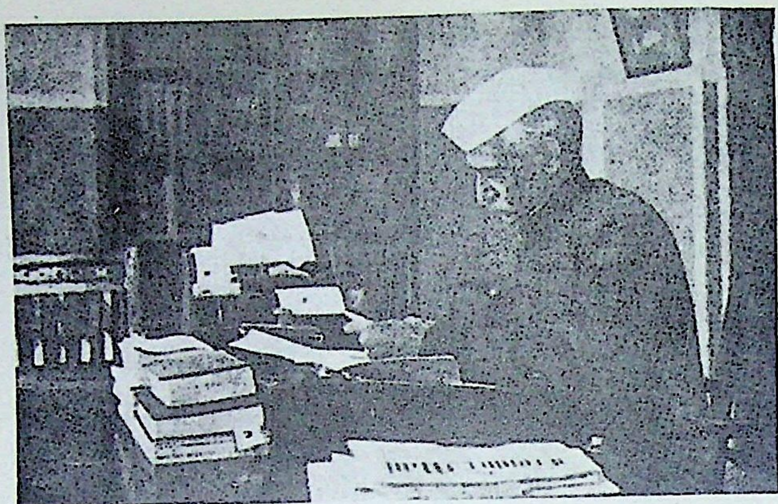
डा भगवान दास और आचार्य नरेंद्रदेव



आचार्य जी और प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू



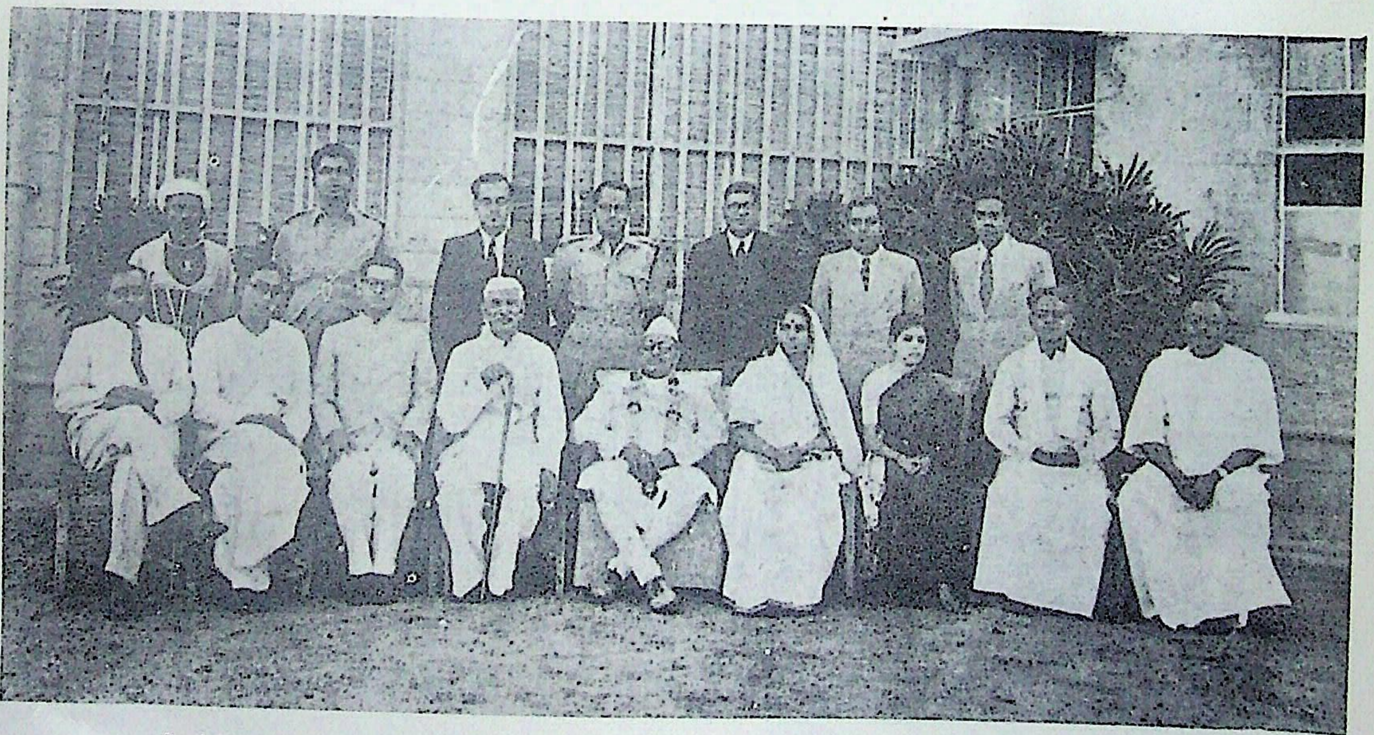
बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति



लखनऊ विश्वविद्यालय के कुलपति



समाजवाद के पुरस्कर्ता, आचार्य नरेंद्रदेव के साथ



परेंदुरई में श्री श्री प्रकाश जी के साथ। बीच में श्री श्री प्रकाश जी, उनके दाहिनी ओर आचार्य नरेंद्रदेव तथा बाई ओर श्रीमती प्रेगादेवी। बैठी पंक्ति में बाए से दूसरे आचार्य जी के स्नेही डाक्टर रामधर मिश्र



आचार्य जी अपने अंतिम दिनों में

में भाग लें। अन्य कारणों के साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि लोकतंत्र की सफलता के लिए लोकतांत्रिक विरोध पक्ष आवश्यक है जिसकी पूर्ति कम्युनिस्ट पार्टी नहीं कर सकती, क्योंकि वह न तो लोकतांत्रिक है और न ही राष्ट्रीयतावादी।

दार्शनिक पक्ष

नरेंद्रदेवजी ने सृष्टि के भौतिकवादी सिद्धांत को स्वीकार नहीं किया। उनकी मान्यता थी कि चेतना भूत तत्व का स्वभाविक गुण है, वह सूक्ष्मतम में भी व्याप्त है। नरेंद्रदेवजी ने द्वंद्वात्मक सद्वाद को माना है न कि मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को। नरेंद्रदेवजी स्वयं धर्मवादी न थे और न ही किसी संगठित धर्म या धार्मिक संप्रदाय के अनुयायी थे। उनके पुराने शिष्य और बाद के सहयोगी प्रो. राजाराम शास्त्री इस संबंध में कहते हैं :

"लौकिक चिंतन पारलौकिक चिंतन से इतना पराभूत और मिश्रित हो गया था कि विचार और व्यवहार का कोई भी ऐसा अंग दिखलाना असंभव था जिसे शुद्ध रूप से लौकिक कहा जा सके।. . . आज की दुनिया के विकसित विचारों में जीवन के हर अंग में पारलौकिकता को चुनौती दी जा रही है। जीवन और सारा जगत एक ही प्रकृति का विस्तार है, और दूसरी दुनिया नहीं है। परलोक या दूसरी दुनिया की कल्पना मनुष्य के ज्ञान के छिद्रों को भरने का एक मानसिक प्रयास और सामाजिक संगठन के अंतर्विरोधों और अन्याय की क्षतिपूर्ति का एक प्रयत्न मात्र है। इसी विचार-सारणि का अनुसरण करते हुए आचार्यजी किसी पारलौकिक जगत में विश्वास नहीं रखते थे और इस कारण न तो धर्मवादी थे और न ही किसी संगठित धर्म के अनुयायी।. . . किंतु सभ्यताओं के इतिहास के गहन अध्ययन से वह इस निश्चय पर पहुंचे थे कि धर्मों के जटिल ढांचे में बड़े प्रेरणादायक नैतिक एवं सांस्कृतिक तत्व गुंथे हुए थे जिन्होंने मनुष्य को प्रगति के पथ पर आगे बढ़ाया था और इन तथ्यों को अपने शुद्ध रूप में लौकिक संस्कृति के रूप में देखना चाहिए चाहे वे कितने ही धार्मिक आवरणों में ढके हों।"[1]

आचार्यजी ने बौद्ध धर्म और दर्शन का विशेष अध्ययन अवश्य किया था पर वह बौद्ध मत के अनुयायी नहीं थे। वह उसके मानवतावादी और समतावादी गुणों के प्रशंसक थे और उसके आधारभूत विचारों को अन्य सभी धर्मों के विचारों की अपेक्षा अधिक तर्कसंगत मानते थे। वह धर्मवादी न होते हुए भी धर्म के अध्येता थे। उनकी दृष्टि में धर्म मानवीय संस्कृति के विकासक्रम में प्रस्तुत होता है। अतः उन्होंने धर्मों के रचनात्मक तत्वों का आदर करते हुए धर्म की रचनात्मक मीमांसा की

1. *आचार्य नरेंद्रदेव - व्यक्ति और प्रमुख विचार,* अजयकुमार (संपादक), *भारतीय समाजवाद के जनक—आचार्य नरेंद्रदेव,* ले. : प्रो. राजाराम शास्त्री, आचार्य नरेंद्रदेव समाजवादी संस्थान, वाराणसी, 1989, पृ. 25.

है। कार्ल मार्क्स और उनके अनेक अनुयायियों की अपेक्षा वह धर्मों के प्रति अधिक सहिष्णु और उदार थे। प्रो. राजाराम शास्त्री ने उनके धर्म और दर्शन विषयक विचारों पर प्रकाश डाला है। वह कहते हैं :

"धर्म के आलोचक होते हुए भी आचार्यजी एक अत्यंत आध्यात्मिक पुरुष थे। मार्क्स ने भी आध्यात्मिकता को धर्म से भिन्न माना था, लेकिन उसने आध्यात्मिकता को सामाजिक और बौद्धिक संस्कृति तक सीमित कर दिया था, जबकि आचार्य नरेंद्रदेव एक ऐसे आंतरिक अनुभव को स्वीकार करते थे जो तर्क या युक्ति से प्राप्य नहीं है, केवल अंतस्फूर्ति से प्राप्य है। और वे इसी आंतरिक अनुभव को उदात्त नैतिक दायित्व और सर्वजन हित के लिए आत्यंतिक आत्मत्याग की प्रेरणा का आदि स्रोत मानते थे। इस आंतरिक संवेदना के अतिरिक्त वे प्रकृति की विशालता एवं उदात्तता में एक विशेष सौंदर्य का अनुभव करते थे। यही नैतिक, मानसिक, सौंदर्यानुभूति सम्मिलित रूप से एक समग्र अनुभव के रूप में आचार्यजी की आध्यात्मिकता की परिभाषा बनाती है, जो आर्थिक एवं उपयोगितावादी शब्दों में नहीं ढाली जा सकती। आध्यात्मिकता के स्वरूप के संबंध में कार्ल मार्क्स से इस मतभेद के अतिरिक्त आचार्य नरेंद्रदेव द्वंद्वात्मक विकास के विशेषज्ञ होते हुए भी अपने को द्वंद्वात्मक भौतिकवादी न कहकर द्वंद्वात्मक सद्वादी कहते थे। वे मार्क्स से इस बात में सहमत थे कि जगत की सत्ता वास्तविक है और वह एक भ्रम मात्र नहीं है। किंतु जहां मार्क्स जगत के मूल तत्व के रूप में भौतिक तत्व को महत्व देता है और चेतना को उस भौतिक तत्व का एक गुण मात्र मानता है जो उसमें विकासक्रम में आगे चलकर एक विशेष अवस्था में उत्पन्न होता है, वहां आचार्य नरेंद्रदेव यह मानते हैं कि चेतना समस्त भौतिक तत्व में विकास की निम्नतम अवस्था में भी आरंभ से ही विद्यमान है, यह दूसरी बात है कि विकास की विभिन्न अवस्थाओं में चेतना के भिन्न-भिन्न विकासोन्मुख रूप दिखाई देते हैं जिन्हें हम कहीं संवेदन, कहीं प्राण और कहीं बुद्धि के रूप में पाते हैं। आचार्यजी भौतिक तत्व की अपेक्षा चेतना को प्रकृति का अधिक महत्वपूर्ण अंग मानते हैं, क्योंकि वह प्रकृति पर प्रभुत्व प्राप्त करती है और उसकी सक्रिय और सृजनात्मक शक्ति है। भौतिक तत्व पर चेतना की प्रधानता देने के कारण आचार्यजी अपने को भौतिकवादी नहीं कहते, दूसरी ओर जगत की वास्तविक सत्ता को स्वीकार करने के कारण वे अपने को दार्शनिकों के दूसरे समुदाय में अर्थात प्रत्ययवादियों में भी नहीं रखते, जिनके अनुसार संसार वास्तविक न होकर एक विशाल कल्पना मात्र है। इस प्रकार आचार्य नरेंद्रदेव के दर्शन का समाहार द्वंद्वात्मक सद्वाद शब्द में होता है।"[1]

---

1. *आचार्य नरेंद्रदेव - व्यक्ति और प्रमुख विचार*, अजयकुमार (संपादक), *भारतीय समाजवाद के जनक—आचार्य नरेंद्रदेव*, ले. : प्रो. राजाराम शास्त्री, आचार्य नरेंद्रदेव समाजवादी संस्थान, वाराणसी, 1989, पृ. 26-27.

नरेंद्रदेवजी ने गांधी से साधन की शुद्धता के विचार को ग्रहण किया, और उसे समाजवादी कार्यनीति का एक सिद्धांत बनाया। अपने जीवन के अंतिम वर्षों में उन्होंने गांधीजी के अहिंसा के सिद्धांत को साधन की शुचिता और वर्ग संघर्षों में सत्याग्रह के रूप में ग्रहण कर लिया। वह कहते हैं, "साधनों की शुचिता स्वयं साध्य के समान ही आवश्यक है। निकृष्ट साधनों से उत्कृष्ट फल की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। शुद्ध उद्देश्य के लिए साधन भी शुद्ध होने चाहिए।"[1]

यह उन्हीं के कारण था कि प्रजा सोशलिस्ट पार्टी ने संस्कृति के प्रश्न को विशेष महत्व प्रदान किया और अन्य देशों के समाजवादी दलों की अपेक्षा संस्कृति एवं नैतिक व्यवस्था की समस्याओं पर अधिक गंभीरता से विचार किया। 1955 में आचार्यजी ने प्रजा सोशलिस्ट पार्टी का जो नीति वक्तव्य तैयार किया था उसमें उन्होंने संस्कृति और नैतिकता पर दो अलग अलग अध्यायों में विचार किया है। उनके नैतिकता एवं संस्कृति संबंधी विचारों पर अलग से विचार करना ही उचित होगा।

पार्टी के क्रियाकलापों में

सन् 1936 में स्थापना सम्मेलन तो डा. संपूर्णानंद की अध्यक्षता में हुआ, लेकिन वहां जो राष्ट्रीय कार्यसमिति बनी उसकी अध्यक्षता का दायित्व नरेंद्रदेवजी को दिया गया। इसके बाद समाजवादी पार्टी ने मजदूरों और किसानों के संगठन की ओर ध्यान दिया। आचार्यजी ने किसानों के संगठन में अधिक भाग लिया। 1936 में स्वामी सहजानंद की अध्यक्षता में अखिल भारतीय किसान सभा की स्थापना की गई। इसकी स्थापना में आचार्यजी और समाजवादी आगे आगे थे। 1939 में और पुनः 1942 में अखिल भारतीय किसान सभा के वार्षिक सम्मेलन की अध्यक्षता आचार्यजी ने की। 1939 में किसान सभा ने निश्चय किया कि स्वतंत्रता संघर्ष में किसान सभाएं कांग्रेस के साथ सहयोग करेंगी और कांग्रेस, किसान सभा, भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस तथा दूसरे साम्राज्य विरोधी संगठनों का एक संयुक्त मोर्चा बनाया जाएगा। यह सब राजनीतिक निर्णय थे और किसानों की आर्थिक मांगों से भिन्न थे। इन निर्णयों में आचार्यजी के चिंतन की स्पष्ट छाप है। उनका मत था कि किसानों और श्रमिकों को आर्थिक हितों एवं समस्याओं के आधार पर वर्गीय संगठनों द्वारा ही राष्ट्रीय स्वतंत्रता और समाजवादी क्रांति में भागीदार बनाया जा सकता है। उन्होंने बहुत पहले ही समाजवादी क्रांति के लिए किसानों के महत्व को समझ लिया था और वह बराबर इस बात के लिए प्रयत्नशील रहे कि स्वतंत्रता-संघर्ष के काल में ही

---

1. *पालिसी स्टेटमेंट* (अंग्रेजी में), आचार्य नरेंद्रदेव, प्रजा सोशलिस्ट पार्टी नई दिल्ली, 1959, पृ. 35.

मजदूर वर्ग और किसान वर्ग का संयुक्त मोर्चा बनाकर शोषित वर्ग के आर्थिक संघर्ष को राजनीतिक संघर्ष में बदल दिया जाए। यूरोप में मार्क्स और उसके अनुयायियों ने किसानों को निम्नमध्यम वर्ग का माना था और माना था कि अपनी तुच्छ संपत्ति के मोह में वे समाजवादी क्रांति के विरोधी हैं। पर एशिया में परिस्थितियां भिन्न थीं और भारत तथा चीन आदि देशों में किसानों का चरित्र क्रांतिकारी था। जब भारत स्वतंत्र हो गया और कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी कांग्रेस से अलग एक स्वतंत्र राजनीतिक दल बन गई तो 1949 में उसने किसानों और मजदूरों के वर्गीय संगठनों को पार्टी की सामूहिक सदस्यता प्रदान की। ब्रिटेन की लेबर पार्टी में भी ऐसा होता था। याद रहे कि इस सम्मेलन के अध्यक्ष आचार्यजी थे।

सोशलिस्ट पार्टी के इसी सम्मेलन ने अखिल भारतीय किसान पंचायत के गठन का निर्णय लिया था और डा. राममनोहर लोहिया की अध्यक्षता में एक संगठन समिति बनाई गई थी। बाद में जमींदारी उन्मूलन, बेदखली, भूमि पुनर्वितरण आदि किसानों की समस्याओं को लेकर किसान पंचायत और सोशलिस्ट पार्टी ने देश भर में अनेक आंदोलन किए। इस प्रकार सोशलिस्ट पार्टी ने स्वतंत्र भारत में एक ओर किसानों को और दूसरी ओर श्रमिकों को संगठित किया।

सन् 1949 में उत्तर प्रदेश के देवरिया जनपद में लगान माफी के प्रश्न पर सरकार और सोशलिस्ट पार्टी में कठिन मतभेद उत्पन्न हो गया। सरकार ने फसल की क्षति की जांच कराने से इनकार कर दिया और अंत में समाजवादियों के नेतृत्व में किसानों ने सत्याग्रह करने की घोषणा कर दी। उस समय उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री श्री गोविंद बल्लभ पंत थे। उन्होंने अपने एक भाषण में सत्याग्रह का विरोध करते हुए कहा कि स्वतंत्र जनतांत्रिक देश में सत्याग्रह का कोई स्थान नहीं है। आचार्यजी को पंतजी के इस बयान से बहुत ठेस पहुंची। उन्होंने पंतजी के मत का कड़े शब्दों में खंडन करते हुए कहा कि "मुझे पता नहीं कि राजनीति की किस पुस्तक में यह सिद्धांत प्रतिपादित किया गया है। इसके विपरीत मैं ग्रीन और लास्की जैसे लेखकों और स्वयं गांधीजी की राय इस सिद्धांत के समर्थन में पेश कर सकता हूं कि जब साधारण वैधानिक उपाय विफल हो जाते हैं तब सही उद्देश्य के लिए शांतिमय सत्याग्रह आवश्यक हो जाता है।"

औद्योगिक श्रमिकों के संगठन में भी उनकी दिलचस्पी कम न थी। किंतु वे अप्रत्यक्ष कार्य ही अधिक करते थे। स्वतंत्रता संघर्ष के समय आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस कम्युनिस्टों के प्रभाव में आ गई थी जिनका अन्य किसी भी पार्टी के लोगों से तालमेल कठिन था। 1947 में कांग्रेस ने राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस का गठन कर लिया था। सोशलिस्ट पार्टी ने रायवादी और कुछ स्वतंत्र लोगों के सहयोग से हिंद मजदूर सभा की स्थापना की। एक बार डालमिया नगर में मजदूर

और मालिक दोनों ने उन्हें पंच चुन लिया। तब उन्होंने उनमें समझौता करा दिया। वह श्रमिक संघों की एकता के पक्षधर और उनमें लोकतांत्रिक प्रक्रिया के समर्थक थे। कारखाना समितियों में मजदूर प्रतिनिधियों की नियुक्ति के लिए भी उन्होंने लोकतांत्रिक प्रक्रिया अपनाने की मांग की थी। कभी कभी वह सरकार की जनतंत्र विरोधी और मजदूर विरोधी नीतियों की निंदा करने को भी मजबूर हुए, विशेषकर मजदूरों के हड़ताल करने के अधिकार को लेकर।

अंत में वह इस परिणाम पर पहुंचे थे कि समाजवादी समाज का निर्माण करना अकेले श्रमिक वर्ग के वश के बाहर है और इसके लिए उसे उच्च शिक्षा-दीक्षा तथा लंबे अभ्यास की और मध्यमवर्गीय बौद्धिक लोगों के मार्गदर्शन की आवश्यकता है। वह कहते हैं, "नैतिक तथा आध्यात्मिक विशिष्टता प्राप्त करने का प्रयत्न करना वर्ग संघर्ष का अविच्छेद अंग है।. . . यदि मजदूर वर्ग को इतिहास ने समाजवाद का उपकरण बनाया है. . . तो इसमें संदेह नहीं कि मजदूर वर्ग को नैतिक एवं बौद्धिक दृष्टि से इस कार्य को संपन्न करने के लिए अपने को तैयार करना होगा। . . यह कार्य बिना शिक्षा-दीक्षा के नहीं हो सकता। नया समाज वर्गहीन होगा और उसका आधार सच्ची स्वतंत्रता, समानता, सामाजिक न्याय और भ्रातृत्व है। यह कितना ऊंचा आदर्श है! यह एक नवीन संस्कृति को जन्म देगा। जब तक मजदूर वर्ग उस संस्कृति को आत्मसात नहीं कर लेता जिसकी सृष्टि मध्यम वर्ग ने की है, तथा उसकी कमियों को दूर कर विश्व कुटुंब के आधार पर नए समाज का संगठन नहीं करता तब तक समाजवाद की स्थापना संभव नहीं है।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्यजी समाजवाद को एक लंबी, जटिल और कठिन प्रक्रिया के रूप में देखते थे और उसके नैतिक एवं सांस्कृतिक पक्ष को विशेष महत्व देते थे।

1942 की अगस्त क्रांति में

सितंबर 1939 में दूसरा विश्वयुद्ध शुरू हुआ। भारत की विदेशी सरकार ने अपने मन से भारत को युद्ध में शामिल कर दिया। इस पर विभिन्न प्रांतों के कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने त्यागपत्र दे दिए। उधर कांग्रेस ने भारत की स्वतंत्रता की मांग दोहराई। वामपंथी पार्टियां कांग्रेस को जन आंदोलन करने के लिए प्रेरित करने लगीं। उन्होंने साम्राज्य विरोधी मोर्चा बनाया। सुभाषचंद्र बोस उस समय कांग्रेस के अध्यक्ष थे। वह ब्रिटेनी शासन को अल्टीमेटम (चेतावनी) देकर अविलंब जन-आंदोलन शुरू करना चाहते थे। इसी प्रश्न पर उन्होंने 1939 में अध्यक्ष का चुनाव पुनः लड़ा और चुन

---

1. *साहित्य, शिक्षा और संस्कृति*, आचार्य नरेंद्रदेव (रमेशचंद्र तिवारी एवं कृष्णनाथ—संपादक), प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 1988, पृ. 192.

लिए गए। इस चुनाव में नरेंद्रदेवजी और उनके समाजवादी साथी सुभाषजी के साथ थे। पर गांधीजी और कुछ अन्य बड़े नेता जल्दी में न थे। वह विरोध में खड़े हो गए। अंत में सुभाषजी को अध्यक्षता से त्यागपत्र देना पड़ा और बाद में वह कांग्रेस से निलंबित कर दिए गए। जब नरेंद्रदेवजी ने देखा कि वामपंथी लोग गांधी के नेतृत्व के बिना अपने बूते पर प्रभावी आंदोलन करने की स्थिति में नहीं हैं तो उन्होंने अपना हाथ पीछे खींच लिया। सुभाषजी ने फारवर्ड ब्लाक नाम से अपना अलग दल बना लिया। समाजवादी उसमें शामिल नहीं हुए। सुभाषजी जर्मनी आदि धुरी राष्ट्रों की और भारतीय सेना की सहायता से सशस्त्र विद्रोह के पक्ष में थे। कुछ समय बाद वह शासन की आंखों में धूल झोंक कर देश के बाहर चले गए। अंत में उन्होंने आजाद हिंद फौज का गठन किया और भारत की सीमा पर अंग्रेजी सेना से युद्ध किया।

इधर कांग्रेस ने अक्तूबर 1940 में गांधीजी के मार्गदर्शन में व्यक्तिगत सत्याग्रह शुरू किया। नरेंद्रदेवजी ने भी सत्याग्रह में भाग लिया पर जेल में वह बहुत बीमार हो गए और उनकी दशा दिन-प्रतिदिन बिगड़ती गई। ऐसी स्थिति में सरकार ने उन्हें जेल से मुक्त कर दिया। वास्तव में उनकी बीमारी को लेकर उस समय गांधीजी बहुत चिंतित हो गए थे और उन्होंने अपनी चिंता वायसराय को लिख भेजी थी। पर आचार्यजी को इसकी कोई जानकारी नहीं थी।

जब जापान का आक्रमण सन्निकट आ गया तो दिसंबर 1941 में सरकार ने सब सत्याग्रहियों को मुक्त कर दिया। 7 दिसंबर को जापान ने पर्लहार्बर पर आक्रमण कर दिया और उसके बाद आगे बढ़कर मलाया तथा बर्मा पर अधिकार कर लिया। उस समय ब्रिटिश सरकार ने अपने एक मंत्री सर स्टेफर्ड क्रिप्स को समझौते के लिए भारत भेजा। पर कोई समझौता न हो सका।

यह समय ब्रिटिश सरकार और कांग्रेस दोनों के लिए भारी संकट और असमंजस का था। भारत पर जापान का आक्रमण किसी समय भी होने का डर था। कांग्रेस और उसके नेताओं को युद्ध में जापान और धुरी राष्ट्रों की जीत कदापि स्वीकार न थी। ब्रिटेन भारत को सत्ता हस्तांतरित करने को तैयार न था। कांग्रेस के अधिकांश नेता ऐसी नाजुक घड़ी में कोई बड़ा आंदोलन करना नहीं चाहते थे। अंत में जुलाई 1942 में कांग्रेस की राष्ट्रीय समिति ने ब्रिटेन को चेतावनी देकर व्यापक सत्याग्रह आंदोलन करने का निर्णय कर लिया। नरेंद्रदेवजी शुरू से ही आंदोलन के पक्ष में थे। वह और उनके समाजवादी साथियों ने इस अवसर पर आंदोलन का मुस्तैदी के साथ समर्थन किया।

8 अगस्त की रात में मुंबई में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन में

आंदोलन करने का अंतिम निर्णय किया गया और आंदोलन का रूप तथा कार्यक्रम तय करने का भार गांधीजी को दे दिया गया। पर इसके पहले कि आंदोलन की कोई रूपरेखा तैयार की जाए और तत्संबंधी निर्देश जारी किए जाएं, 8-9 अगस्त की रात को बंबई में उपस्थित कांग्रेस के सब नेता बंदी बना लिए गए। साथ ही पूरे देश में बड़े पैमाने पर गिरफ्तारियां की गईं और कांग्रेस संगठन को अवैधानिक घोषित कर दिया गया। नरेंद्रदेवजी बंबई में ही गिरफ्तार कर लिए गए और कांग्रेस की राष्ट्रीय कार्यसमिति के अन्य सदस्यों के साथ अहमदनगर के दुर्ग में बंद कर दिए गए। वहां उनके साथ अन्य लोगों के अतिरिक्त जवाहरलाल नेहरू, मौलाना अबुलकलाम आजाद, सरदार बल्लभभाई पटेल, गोविंद बल्लभ पंत, आसफ अली आदि अनेक नेता बंद थे। वहां ये लोग 1945 के प्रारंभ तक बंद रहे।

अहमदनगर दुर्ग में नरेंद्रदेवजी का पहला साल निरंतर बीमारी में बीता। एक के बाद दूसरे श्वास के दौरों ने बहुत परेशान किया। एक वर्ष के बाद श्वास के दौरे कम हुए। तब उन्होंने बौद्ध दर्शन के एक प्रसिद्ध और कठिन ग्रंथ *अभिधर्मकोश* का फ्रेंच भाषा से हिंदी में अनुवाद का काम शुरू किया। इसके अतिरिक्त बौद्ध दर्शन और धर्म पर लिखे अपने पुराने लेखों का भी संग्रह किया और कुछ नए लेखों को जोड़कर उनके आधार पर *बौद्ध धर्म तथा दर्शन* नाम का एक महाग्रंथ तैयार किया। इस ग्रंथ में बौद्ध धर्म और दर्शन की सभी महत्वपूर्ण शाखाओं और संप्रदायों का अधिकारिक परिचय उपनिबद्ध है। यह दोनों ग्रंथ बौद्ध जगत को उनकी अनुपम देन माने जाते हैं। बौद्ध धर्म तथा दर्शन के सर्वांग को एक ग्रंथ के कलेवर में प्रस्तुत करने का यह पहला सफल प्रयास था। इस प्रकार का सर्वांगीण ग्रंथ संसार की किसी भी भाषा में उपलब्ध नहीं है।

देश विभाजन और नए भारत का संविधान

सन् 1947 में भारत स्वतंत्र हो गया। स्वतंत्रता मिलने के पहले उसे दो राष्ट्रों में विभाजित करना पड़ा। यह भी भारत के लिए भारी संकट और दुर्दिन का समय था। नरेंद्रदेवजी का मत था कि विभाजन की शर्त पर न तो मुस्लिम लीग से समझौता किया जाए और न ही ब्रिटिश सत्ता से। वह स्वतंत्रता के लिए एक नए और बड़े आंदोलन की तैयारी करना चाहते थे और देश के विभाजन को किसी हालत में भी स्वीकार करने के विरुद्ध थे। गांधीजी भी इसी मत के थे। लेकिन कांग्रेस के कुछ बड़े नेताओं ने गांधीजी के मत की उपेक्षा कर विभाजन को स्वीकार कर लिया। नरेंद्रदेवजी और समाजवादी अल्पमत में थे। उनकी एक न चली। इसी उहापोह में कुछ समाजवादी नेताओं ने संविधान सभा का बहिष्कार करने की घोषणा कर दी। यद्यपि आचार्यजी इस नीति के पक्ष में न थे, लेकिन जब पार्टी ने जैसे-तैसे यह निर्णय

कर लिया तो उन्होंने भी संविधान सभा का सदस्य होने से इनकार कर दिया। उस समय 1946 में नरेंद्रदेवजी और उनके साथी एक नए जन आंदोलन की तैयारी में लगे थे और संविधान सभा को नकार रहे थे। उनका तर्क था कि यह वयस्क मताधिकार के आधार पर चुनी गई संविधान सभा नहीं है, दूसरे यह ब्रिटेन की संसद के प्रस्ताव में रखी गई शर्तों से बंधी होने के कारण पूर्णतया प्रभुसत्ता संपन्न नहीं है।

कांग्रेस से नाता तोड़ा

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि स्वतंत्र भारत में सोशलिस्ट पार्टी की भूमिका क्या होगी और विशेषकर कांग्रेस के साथ इसका क्या संबंध होगा। नरेंद्रदेवजी और उनके साथियों को यह स्पष्ट हो गया था कि कांग्रेस अपने वर्तमान ढांचे और नेतृत्व के अधीन समाजवादी समाज का वाहन नहीं बन सकती।अतः उससे अलग तो होना ही था। पर समय के बारे में मतभेद था। अशोक मेहता और यूसुफ मेहर अली अविलंब कांग्रेस से पुराना नाता तोड़ने के पक्ष में थे। नरेंद्रदेवजी का मत भिन्न था। वह कुछ समय तक कांग्रेस में बने रहना चाहते थे। कांग्रेस का नया संविधान बनाने के लिए तीन व्यक्तियों की जो उपसमिति नियुक्त की गई थी उसके सदस्य श्री जयप्रकाश नारायणजी भी थे। उस समिति ने बहुमत से यह निर्णय किया था कि अलग नियम और विधान वाली राजनीतिक पार्टी के सदस्य कांग्रेस के सदस्य नहीं बन सकेंगे। तब 1948 के वार्षिक सम्मेलन में राष्ट्रीय कांग्रेस से अलग होने का निर्णय किया गया।

नासिक सम्मेलन के निर्णय के अनुसार उत्तर प्रदेश में 12 विधायकों ने विधानसभा से त्यागपत्र देकर पुनः चुनाव लड़ा। लेकिन सभी चुनाव हार गए। आचार्यजी को भी हार का मुंह देखना पड़ा। उत्तर प्रदेश की कांग्रेस में समाजवादियों का बहुत प्रभाव था। कुछ समाजवादी नेताओं का अनुमान था इसके बाद वाले चुनाव में यहां समाजवादी पार्टी का बहुमत हो जाएगा। परंतु आचार्यजी इस मत के न थे। उन्होंने नासिक सम्मेलन (1948) में अपने भाषण में कहा था कि यह हमारा "वनपर्व" होगा। वह 1952 के आम चुनाव में भी विधान सभा का चुनाव हार गए। संसद में समाजवादी पार्टी के केवल 12 सदस्य पहुंच पाए। अन्य विरोधी दलों की स्थिति भी बहुत अच्छी न् थी। फिर भी, कम्युनिस्ट पार्टी की स्थिति समाजवादी पार्टी की अपेक्षा कुछ बेहतर थी। चुनाव के मैदान में पार्टी की और अपनी हार की चोट आचार्यजी को भी अवश्य ही लगी होगी। लेकिन उनके व्यवहार से ऐसा कुछ नहीं लगा। 1952 के चुनाव में विशेषकर आचार्यजी के विरुद्ध जिस प्रकार लोकतांत्रिक मर्यादाओं की अनदेखी कर ओछे अस्त्रों का प्रयोग कांग्रेस नेतृत्व द्वारा किया गया उसे देखकर उन्हें

बहुत दुख हुआ था और कांग्रेस की लोकतांत्रिक प्रतिबद्धता पर उन्हें शंका हो गई थी। उन्हें भारतीय संस्कृति का शत्रु और नास्तिक बताकर कुत्सित प्रचार किया गया था। इसकी कड़वाहट उनके मन पर बहुत दिनों तक बनी रही।

अगस्त 1952 में किसान मजदूर प्रजा पार्टी और सोशलिस्ट पार्टी के विलयन का निर्णय हुआ। नरेंद्रदेवजी विलय के विरुद्ध थे। लेकिन बहुमत विलय चाहता था। तब आचार्यजी ने कहा कि वर्ग संघर्ष के सिद्धांत को स्वीकार किए बिना विलय स्वीकार नहीं है। अंत में विलय का निश्चय हुआ। नरेंद्रदेवजी इस निर्णय से प्रसन्न न थे। वास्तव में 1952 के आम चुनाव के परिणामों ने समाजवादियों में घबराहट पैदा कर दी थी और वह अन्य विरोधी दलों से मिलकर अपनी शक्ति बढ़ाना चाहते थे। जब विलय के बारे में अनौपचारिक निर्णय किया गया उस समय आचार्यजी चीन की यात्रा पर थे और इस संबंध में उनसे कोई मंत्रणा नहीं की गई।

सन् 1952 में वह उत्तर प्रदेश के विधान सभा निर्वाचन क्षेत्र से दो वर्ष के लिए राज्यसभा के सदस्य चुने गए। वह पुनः 1954 में विधान सभा क्षेत्र से पुनः राज्यसभा के सदस्य 6 वर्ष के लिए चुने गए।

पार्टी में फूट

सन् 1953 में शीर्षस्थ समाजवादी नेताओं में फूट पड़ गई। अशोक मेहता की सोच यह थी कि यदि आर्थिक विकास पर्याप्त गति से नहीं होगा तो लोकतंत्र अपनी जड़ें न जमा सकेगा। शायद उन्हें डर था कि ऐसी दशा में या तो देश बिखर जाएगा या एक न एक प्रकार के सर्वसत्तावाद की गोद में चला जाएगा। अतः वह आर्थिक विकास के क्षेत्र को सभी राजनीतिक दलों के सहयोग का क्षेत्र बनाने को उत्सुक थे। उधर विशेषकर डा. राममनोहर लोहिया उग्र राजनीतिक विरोध की बात सोच रहे थे। उन्हें अशोक मेहता की नियत पर ही शक था और यह भी सोचते थे कि शायद जयप्रकाश नारायण भी इसी विचार के हैं। जब जवाहरलाल नेहरू की पहल पर जयप्रकाश नारायण ने कांग्रेस से प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के सहयोग पर चर्चा चलाई तो लोहिया साहब की यह शंका और भी पक्की हो गई। इस संबंध में स्वयं जयप्रकाशजी का कथन इस प्रकार है :

"सन् 1953 में जब मैं पूना में डा. दीनशा मेहता के क्लिनिक में तीन सप्ताह का उपवास कर रहा था तभी जवाहरलालजी का एक पत्र मिला कि जब दिल्ली आओ तो मुझसे मिलना। मैंने उत्तर दिया कि उपवास के बाद जब स्वास्थ्य लाभ कर लूंगा तो रंगून एशियन सोशलिस्ट कांफ्रेंस में जाऊंगा और वहां से लौटने के बाद दिल्ली आकर उनसे मिलूंगा। मुझे दुख है कि मेरे कतिपय मित्रों ने इतनी सी बात पर ही यह संदेह करना शुरू कर दिया कि जवाहरलालजी के साथ मेरी कोई साजिश चल रही है।

"दिल्ली में जवाहरलालजी से तीन दिनों तक कांग्रेस और प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के परस्पर सहयोग के विषय पर चर्चा हुई। बाद में मैंने जवाहरलालजी को एक पत्र में 14 सूत्रीय कार्यक्रम लिख भेजे जिसको मैंने दोनों पार्टियों के परस्पर सहयोग का आधार बताया। लगभग तीन सप्ताह के बाद जवाहरलालजी से मिलकर फिर आखिरी निर्णय करना था। उन दिनों कृपलानीजी हमारी पार्टी के अध्यक्ष थे। उन्होंने पूरी तरह से सहयोग के विचार का समर्थन किया। दिल्ली वापस जाने के पहले मैं काशी गया और वहां काफी विस्तार से नरेंद्रदेवजी से उस विषय पर चर्चा की। वह जवाहरलालजी के प्रस्ताव के विरुद्ध थे। उनका कहना था कि कांग्रेस के साथ मिलकर काम करना असंभव होगा। चाहे जवाहरलालजी की निजी राय कुछ भी हो, कांग्रेस समाजवाद से बहुत दूर है। उनका तीसरा कारण यह था कि शासन में घुसने के बाद अपने लोगों पर बुरा असर पड़ सकता है और उनकी दुर्बलताएं बढ़ सकती हैं। इन दलीलों में ताकत थी। फिर भी मैं नरेंद्रदेवजी से सहमत नहीं हुआ। मैंने उनसे कहा कि अपने लोगों पर हमें विश्वास करना चाहिए। कांग्रेस समाजवादी संस्था न होते हुए भी यदि हमारे 14 सूत्रीय कार्यक्रम को या उसमें से अधिकांश को मान लेती है तो हमारे और उसके सहयोग से समाजवाद को कुछ आगे बढ़ने का मौका मिलेगा, पार्टी की शक्ति और प्रभाव बढ़ेगा, और यदि अनुभव से यह सिद्ध हुआ कि कांग्रेस ने हमारे कार्यक्रम को सिर्फ ऊपरी दिल से माना था और हम आगे प्रगति नहीं कर रहे हैं तो हम इस्तीफा देकर बाहर आ सकते हैं और जनता के सामने इस चीज को सफाई से पेश करके उसको प्रभावित कर सकते हैं। मेरा यह विचार आज तक बदला नहीं है और आज भी मैं मानता हूं कि यदि हमारी शर्तों पर सहयोग हो पाता तो समाजवाद के लिए अच्छा होता।

"पाठकों को स्मरण होगा कि जवाहरलालजी के प्रस्ताव का कोई परिणाम नहीं निकला। इसका एक मात्र कारण यही था कि जब दुबारा दिल्ली में उनसे मेरी मुलाकात हुई तो उन्होंने कहा कि मैंने सहयोग के लिए जो आधार बताया है उसके लिए समय अनुकूल नहीं है। बिना किसी शर्त के सहयोग हो, यह तो संभव था। परंतु उसके लिए मैं स्वयं तैयार नहीं था और बात वहीं पर खतम हो गई।"[1]

कारण जो भी हो, समाजवादी नेताओं में मनमुटाव और अविश्वास इतना बढ़ गया था कि यह लगने लगा था कि अब ये लोग देर तक साथ साथ नहीं चल सकते। 1954 में एक घटना ने फूट को चरम पराकाष्ठा पर पहुंचा दिया और इससे पार्टी दो शिविरों में बंट गई।

---

1. *आचार्य नरेंद्रदेव : युग और नेतृत्व*, मुकुटबिहारी लाल, 'प्राक्कथन' जयप्रकाश नारायण, आचार्य नरेंद्रदेव समाजवादी संस्थान, वाराणसी, 1970, पृ. 6-7.

केरल में उस समय प्रजा सोशलिस्ट पार्टी की अल्पमत सरकार का शासन था। उस समय इस राज्य का नाम त्रावणकोर कोचीन था। वहां अगस्त 1954 में एक उपद्रवी भीड़ पर पुलिस ने गोली चला दी जिसके परिणामस्वरूप कई व्यक्तियों की मृत्यु हो गई। डा. लोहिया उस समय प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के महामंत्री थे। वह उस समय जेल में थे। उन्होंने जेल से ही त्रावणकोर कोचीन के मुख्यमंत्री पात्तुम धानु पिल्लई को तार से अपने पद से इस्तीफा देने का आदेश दिया। इसे श्री पिल्लई ने मानने से इनकार कर दिया। प्रजा सोशलिस्ट पार्टी की कार्यसमिति ने डा. लोहिया के आदेश का अनुमोदन नहीं किया और त्रावणकोर कोचीन सरकार से घटना की न्यायिक जांच की सिफारिश की। लोहिया जी ने राष्ट्रीय कार्य समिति के निर्णय को स्वीकार नहीं किया। तब 1954 के नवंबर में पार्टी का विशेष अधिवेशन हुआ। उसने राष्ट्रीय कार्यसमिति के निर्णय की पुष्टि कर दी। पर झगड़ा शांत नहीं हुआ। अधिवेशन के वाद पार्टी के अध्यक्ष आचार्य कृपलानी ने एकाएक अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। इसने एक नया संकट पैदा कर दिया। जयप्रकाश नारायण सक्रिय राजनीति से हटकर 'जीवनदायनी' हो गए थे। अच्युत पटवर्धन भी सक्रिय राजनीति से अलग हो चुके थे। यूसुफ मेहर अली का निधन हो चुका था। ऐसी दशा में पार्टी को बचाने के लिए अध्यक्षता का भार नरेंद्रदेवजी के कंधों पर आ गया। इस संकट की घड़ी में वह अपने कर्तव्य से विमुख भी कैसे होते। आचार्य जी ने निष्पक्ष रहकर झगड़े को शांत करने का प्रयत्न किया पर वह सफल नहीं हुए। दोनों ओर से तलवारें खिंची हुई थीं।

जल्द ही झगड़े को आगे बढ़ाने का एक नया मुद्दा हाथ लग गया। कांग्रेस ने 1955 की जनवरी में एक प्रस्ताव स्वीकार कर घोषणा की कि समाजवादी नमूने के समाज की रचना उसका ध्येय है। अशोक मेहता ने एक लेख लिखकर इस घोषणा का स्वागत किया और कहा कि नए वातावरण में दोनों पार्टियों के बीच रचना एवं सहयोग के क्षेत्र में अधिक स्पष्टता आई है और सहमति तथा विरोध के क्षेत्रों को अलग अलग करने की कोशिश की जानी चाहिए। इसके विपरीत मधु लिमये ने कांग्रेस की घोषणा को धोखा बताकर उसकी निंदा की। उन्होंने अशोक मेहता और उसके साथियों की भी निंदा की। इस पर पार्टी की मुंबई नगर शाखा ने मधु लिमये को पार्टी की सदस्यता से निलंबित कर दिया। इसके बाद नरेंद्रदेवजी ने बहुत प्रयत्न किया कि समझौते का कोई रास्ता निकल जाए। पर मामला उलझता ही गया। लोहिया साहब और उनके साथी विद्रोह और अवज्ञा के मार्ग पर चल पड़े। अंत में डा. लोहिया के नेतृत्व में 1955 के दिसंबर में सोशलिस्ट पार्टी के नाम से एक अलग दल बन गया।

उधर नरेंद्रदेवजी का स्वास्थ्य ठीक न था। इस टूट से उनके मन को बड़ा आघात लगा। शारीरिक स्वास्थ्य पहले से ही अच्छा न था। प्रजा सोशलिस्ट पार्टी की रक्षा करने का भार उनके कंधों पर था। अपने बिगड़े हुए दुर्बल स्वास्थ्य को लेकर उन्हें देश का दौरा करना पड़ा। वाराणसी में कार्यकर्ताओं को संबोधित करते हुए उन्हें दो बार इनहेलर लेना पड़ा था। यह मई 1955 की बात है।

इसके बाद उन्होंने विशेषकर प्रो. मुकुटबिहारी लाल की सहायता से एक विस्तृत नीति वक्तव्य तैयार किया। जब दिसंबर के अंतिम सप्ताह में गया में प्रजा सोशलिस्ट पार्टी का अधिवेशन हुआ और यह नीति वक्तव्य वहां पेश हुआ तो आचार्यजी लखनऊ के अस्पताल में रोग शैय्या पर थे। उनकी अनुपस्थिति में उनका अध्यक्षीय भाषण पढ़ा गया और पार्टी का नीति वक्तव्य पेश किया गया। यह नीति वक्तव्य 11 अध्यायों में विभक्त है। शायद संसार के किसी राजनीतिक दल ने अपने नीति वक्तव्य में पहली बार संस्कृति और नैतिकता पर इतने विस्तार से विचार किया था। अंतर्राष्ट्रीय समाजवादी संघ के मंत्री जुलियस ब्रांथल ने उनके निधन के बाद इस नीति वक्तव्य का उल्लेख करते हुए कहा था कि नैतिकता संबंधी इसका अध्याय निश्चय ही नैतिकता पर अब तक लिखे गए सर्वाधिक विचारयुक्त निबंधों में से एक है।

8. काशी विद्यापीठ के अध्यापक

असहयोग आंदोलन के समय 1921 की 10 फरवरी को वाराणसी में महात्मा गांधी ने काशी विद्यापीठ का उद्‌घाटन किया। नरेंद्रदेवजी यहां इतिहास के अध्यापक नियुक्त हुए। वह यहां जुलाई में आए। इस विद्यालय में विशेषतया वे विद्यार्थी पढ़ने को आए थे जिन्होंने असहयोग आंदोलन में भाग लिया था और सरकारी विद्यालयों को अराष्ट्रीय मानकर छोड़ दिया था। वास्तव में इसका उद्‌घाटन गांधीजी ने असहयोग आंदोलन के प्रसंग में किया था। इस प्रसंग में गांधीजी की प्रेरणा से देशभर में राष्ट्रीय शिक्षा के अनेक विद्यापीठ स्थापित किए गए थे।

काशी विद्यापीठ जल्द ही राष्ट्रीय शिक्षा का उच्चस्तरीय केंद्र बन गया। इसने देश को अनेक विद्वान, समाजसेवक और देशभक्त राजनेता प्रदान किए। लालबहादुर शास्त्री, त्रिभुवननारायण सिंह, राजाराम शास्त्री, बालकृष्ण विश्वनाथ केसकर, हरिहरनाथ शास्त्री, अलगुराय शास्त्री, भोला पासवान, परिपूर्णानंद वर्मा, कमलापति त्रिपाठी, सुमंगल प्रकाश, रामसुभग सिंह, रामकृष्ण हेगड़े आदि इसी के स्नातक थे। निस्संदेह इसका बहुत बड़ा श्रेय यहां के तत्कालीन अध्यापक वर्ग को जाता है। पर उन अध्यापकों में आचार्य नरेंद्रदेव का विशिष्ट स्थान है।

उस समय दस लाख रुपए से एक शिक्षा निधि की स्थापना का संकल्प वाराणसी के श्री शिवप्रसाद गुप्त ने किया था। यही हरप्रसाद शिक्षा निधि विद्यापीठ की पोषक संस्था बनी। इस निधि में एक शर्त यह रखी गई थी कि इससे पोषित शिक्षा संस्था न तो विदेशी सरकार से और न ही राष्ट्रीय सरकार से अनुदान या दान लेगी। गुप्तजी के मन में शासन के प्रभाव से मुक्त, स्वतंत्र नीति वाले राष्ट्रीय शिक्षा केंद्र की कल्पना थी। एक ऐसी ही संस्था उन्होंने जापान में देखी थी, जिससे उन्हें यह प्रेरणा मिली थी।

प्रारंभ में प्रसिद्ध दार्शनिक डा. भगवानदास इसके प्राचार्य अर्थात प्रिंसिपल थे। वह दर्शन के गंभीर और सुविख्यात विद्वान थे। उनके अतिरिक्त डा. संपूर्णानंद भी दर्शन के अध्यापक थे। वह दो या तीन साल बाद आए लेकिन लंबे समय तक रहे और एक न एक रूप में आजीवन विद्यापीठ से जुड़े रहे। श्रीप्रकाशजी अंग्रेजी और

राजनीतिशास्त्र के अध्यापक थे। आचार्य कृपलानी आरंभ से ही थे। वह प्रायः छह महीने ठहरे। उनके जाने के बाद प्राचार्य (वाइस प्रिंसिपल) का स्थान नरेंद्रदेवजी ने लिया। नरेंद्रदेवजी की प्रबंध कुशलता को देख डा. भगवानदास ने जल्द ही प्रबंध का कामकाज उन्हें दे दिया। 1926 में डा. भगवानदास ने प्राचार्य पद छोड़ दिया। इसके बाद नरेंद्रदेवजी आचार्य (प्रिंसिपल) बने। तब से आचार्य की उपाधि उनके नाम का अंग बन गई। इसमें संदेह नहीं कि विद्यापीठ के अध्यापक एवं अधिकारी वर्ग में नरेंद्रदेवजी का व्यक्तित्व सबसे अधिक स्नेहिल एवं प्रेरक था। काशी विद्यापीठ में उनका योगदान विशिष्ट और मुख्य है। आचार्य बीरबल सिंह ने उनके विषय में यह ठीक ही कहा है कि : "काशी विद्यापीठ के अध्यापकों और विद्यार्थियों ने सन् 21 से लेकर 42 तक के स्वतंत्रता आंदोलनों में जो महत्वपूर्ण कार्य किया और ख्याति प्राप्त की उसका अधिकतम श्रेय आचार्य नरेंद्रदेव को है। वे विद्यापीठ के प्राण थे। उन्हीं से सबको नेतृत्व मिलता था, प्रेरणा मिलती थी, स्फूर्ति मिलती थी, साहस और प्रोत्साहन मिलता था।[1]

आदर्श अध्यापक और कुशल वक्ता

नरेंद्रदेवजी में प्रायः वे सब गुण भरपूर मात्रा में थे जो एक आदर्श अध्यापक में होने चाहिए। अध्यापक का एक काम है विद्यार्थी को विषय का अद्यतन ज्ञान देना और उसकी जिज्ञासा को उद्दीप्त करना। इस दृष्टि से वह सफल अध्यापक थे। वह विषय की सरल और सुबोध अभिव्यक्ति में निपुण थे। बहुपठित थे और अपने विषय के अच्छे जानकार थे। उनकी प्रस्तुति में नएपन की चमक रहती थी। इसके अतिरिक्त इतिहास की यात्रा में अन्य विषयों को सूत्रबद्ध करके आगे बढ़ते थे। उनकी इतिहास यात्रा में सभी विषय साथ साथ चलते दिखाई देते थे। इतिहास के अलावा भाषा, दर्शन, राजनीति, समाजशास्त्र आदि अनेक विषयों के वह अच्छे ज्ञाता थे। व्याकरण या दर्शन जैसे गूढ़ एवं शुष्क विषयों की रोचक और सरल प्रस्तुति कर सकते थे। उनके इतिहास की यात्रा बीसवीं शती के प्रथम और दूसरे चरण तक पहुंचती थी। भारत का अद्यावधि इतिहास विद्यापीठ की विशेषता थी। यह उन्हीं के कारण थी। डा. बी.वी. केसकर जवाहरलालजी के मंत्रिमंडल में सूचना एवं प्रसार मंत्री थे और काशी विद्यापीठ में 1921-25 में नरेंद्रदेवजी के प्रत्यक्ष शिष्य थे। वह अपने एक संस्मरणात्मक लेख में इस विषय में हमें बताते हैं :

"विद्यापीठ में उनके विशिष्ट विषय थे भारतविद्या, प्राचीन भारतीय इतिहास और

---

1. *आचार्य नरेंद्रदेव जन्मशती ग्रंथ,* संपादक - प्रेम भसीन, मधु लिमये, हरिदेव शर्मा एवं विनोद प्रसाद सिंह, 'आत्मत्याग और निस्पृहता के मूर्तिमान प्रतीक' (ले. : आचार्य बीरबल सिंह), रेडियेंट पब्लिशर्स, कालकाजी, नई दिल्ली, 1990, पृ. 107.

आधुनिक भारत। वह उस समय के एक उदीयमान भारतविद्याविद् थे। . . .भारत के राष्ट्रीय आंदोलन का उनका ज्ञान गहरा और प्रत्यक्ष था। उनका यह ज्ञान विद्यापीठ का मूल्यवान धन था। इसने इतिहास के उनके अध्यापन को अनुपम बना दिया था। पूरे देश में शायद ही कोई दूसरा विद्या केंद्र होगा जहां आधुनिक भारत के इस महत्वपूर्ण पक्ष का अध्यापन या अध्ययन किया जाता हो। वह चंद वाक्यों में इतिहास की घटनाओं का स्पष्ट और व्यापक चित्र प्रस्तुत कर देते थे। उनके श्रोता उनके शब्दचयन और वाग्मिता के सम्मुख मंत्रमुग्ध हो जाते थे। हिंदी और उर्दू का उनसे अधिक प्रभावशाली वक्ता मैंने नहीं देखा।"[1] उसी लेख में उनके वाक्-कौशल की एक रोचक घटना का उल्लेख करते हुए वह कहते हैं, "एक बार लखनऊ में उनसे शिष्टजनों की एक सभा में व्याख्यान देने का निवेदन किया गया। जल्दी में व्याख्यान का विषय 'बौद्ध दर्शन' सुझाया गया। बौद्ध दर्शन जैसे शास्त्रीय विषय को वह उर्दू भाषा में कैसे अभिव्यक्त कर पाएंगे इसके बारे में सभी शंकित थे। लेकिन शंका व्यर्थ थी। वह इतना अच्छा बोले और प्रकृष्ट उर्दू में ऐसी उत्तम अभिव्यक्ति की कि उनके व्याख्यान का अंत श्रोताओं की तालियों से हुआ और उन्होंने श्रोता मंडल की हार्दिक प्रशंसा प्राप्त कर ली।"[2]

उनके एक अन्य पुराने विद्यार्थी श्री कमलापति त्रिपाठी उनका स्मरण करते हुए लिखते हैं, "मैं इतिहास का विद्यार्थी होने के कारण काशी विद्यापीठ में उनका छात्र था। जब प्राचीन भारत का इतिहास पढ़ाते हुए वे आधुनिक भारत की समस्याओं का विवेचन करने लगते थे तो यह देखकर आश्चर्य होता था कि वह कितने विषयों के धुरंधर पंडित हैं। जब वह पढ़ाते थे तो लगता था कि सारा विषय आत्मसात किए हुए हैं। जब मैं उनसे बातें करता था तो ऐसा लगता था कि एक ऐसे व्यक्ति से बात कर रहा हूं जो आकाश की ऊंचाइयों पर बैठा हुआ है।"[3]

सन् 1950 में ऐसी ही एक घटना की याद इस लेखक को भी है। विद्यापीठ की बात है। एकाएक पता लगा कि आचार्यजी आए हैं। उनका एक भाषण आयोजित किया गया। *जनवाणी* मासिक के सहसंपादक तथा मेरे सहपाठी प्रो. रमाशंकर पांडेय और मैंने उनके भाषण को शब्दशः लिखने का संकल्प किया। एक प्रसन्नता की बात

1. *आचार्य नरेंद्रदेव : ए कमेमोरेशन वाल्यूम,* संपादक - बी.वी. केसकर एवं वी.के.एन. मेनन, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ग्रीन पार्क, नई दिल्ली, 1971, पृ. 72-73, इसके संस्मरणात्मक लेख को पाद टिप्पणी संख्या 1 में उल्लिखित 'आचार्य नरेंद्रदेव जन्मशती ग्रंथ' में भी देखा जा सकता है।
2. वही. पृ. 74.
3. *आचार्य नरेंद्रदेव जन्मशती ग्रंथ,* संपादक - प्रेम भसीन, मधु लिमये, हरिदेव शर्मा एवं विनोद प्रसाद सिंह, 'अप्रतिम पांडित्य और मूल्यगत राजनीति के प्रतिमान आचार्यजी,' (ले. : कमलापति त्रिपाठी), रेडियेंट पब्लिशर्स, कालकाजी, नई दिल्ली, 1990, पृ. 37.

यह हुई कि हम इस काम में सफल हो गए। पर यह देखकर हमारे आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि उनका वह भाषण सुसंगठित लेख बन गया। न तो उनके मुख से निकले किसी वाक्य में परिवर्तन करना पड़ा और न ही किसी शब्द को इधर-उधर करने की आवश्यकता हुई। और लेख ज्यों का त्यों *जनवाणी* मासिक में छाप दिया गया।

विद्यार्थियों से संबंध

प्रारंभ में दो बरस तक आचार्यजी और अन्य अध्यापक छात्रों के साथ छात्रावास में ही रहे। गृहपति वही थे। आचार्यजी को विद्यार्थियों के साथ रहने में कुछ भी परेशानी न थी। वह सरलता से उनमें घुलमिल गए। वह विद्यार्थियों की बातें धैर्य और रस से सुनते थे। सहज रूप से उनके साथी बन जाते थे। बातचीत में ऐसी मुद्रा बनाए रखते कि सामने का व्यक्ति उनके ज्ञान के भार से मुक्त एवं अनजान रहकर बात करता रहता था। जो लोग प्रभाव उत्पादन के लिए ज्ञान की बातें करते थे उनकी बातें भी वह गंभीर मुद्रा में देर तक सुनते रहते थे। भिन्न भिन्न विचारधारा के अपने सभी विद्यार्थियों का उन्हें सहज आदर प्राप्त था। इसका एक आधार यह भी था कि वह छात्रों के सुख-दुख के साथी थे और कठिनाई में उनकी वित्तीय सहायता भी करते थे। दूसरे वह विद्यार्थियों के स्वतंत्र विचारों का आदर करते थे। उनकी अध्यापन पटुता ने भी उन्हें छात्रों की प्रशंसा का पात्र बना रखा था। उस समय विद्यापीठ में छात्रों को अपने पाठ्यविषयों के अतिरिक्त अन्य विषयों का सामान्य ज्ञान कराने के लिए विषयों के विभिन्न अध्यापकों के सार्वजनिक व्याख्यान आयोजित होते थे। ऐसे व्याख्यानों में सबसे अधिक भीड़ नरेंद्रदेवजी के व्याख्यान में होती थी।

क्रांति की अनिवार्यता

यूरोप में विज्ञान और तकनीकी विद्या का ही उद्रेक नहीं हुआ था, बल्कि जगत और मानव जीवन के समग्र स्वरूप एवं वास्तविकता पर भांति भांति से पुनर्विचार किया जा रहा था। सृष्टि, उसका उद्भव और लय, इतिहास, समाज, समाज की रचना और विकास, धर्म, संस्कृति, परंपरा, मन, मानव-व्यवहार, शिक्षा, राज्य, अर्थ आदि प्रत्येक चिंतनीय विषय पर नए सिरे से विचार हो रहा था। विज्ञानजनित ज्ञान और नवीन तकनीकजनित उद्योगों ने यूरोप के देशों में जीवन के परंपरागत रंग-ढंग, आचार-विचार, धर्म, आजीविका, शिक्षा, राज-काज आदि सब में उथल-पुथल कर उन्हें बदलने पर मजबूर किया था। प्रश्न था कि क्या भारत में भी यह सब-कुछ होने वाला है?

भारत में ज्यों ज्यों पराधीनता की अनुभूति बढ़ने लगी त्यों त्यों अपने अस्तित्व और अस्मिता की भावना सुधिजन के मनों को स्पंदित करने लगी। यह भावना

विचारकों को अपने समाज एवं संस्कृति के आधारों को समझने और उसका पुनरावलोकन करने पर विवश कर रही थी। एक व्यापक धारणा यह थी कि हमारी समस्याओं का एकमात्र कारण हमारी राजनीतिक पराधीनता है। इस धारणा पर आधारित दृष्टि में अधिक सोचने-विचारने का स्थान न था। इतनी सोच पर्याप्त थी कि विदेशी आधिपत्य से मुक्ति और पुरातन संस्कृति, विद्या एवं धर्म की पुनः स्थापना देश को उसकी खोई हुई भव्यता में पुनः स्थापित कर देगी। पर भारत का विचारवान नेतृत्व यह भली भांति जानता था कि पराधीनता देश की मूल समस्या नहीं है। जो अधिक विचारवान थे उन्हें यह आभास होने लगा था कि पुराने युग से छुटकारा और नए युग की दृष्टि की आवश्यकता है। आचार्य नरेंद्रदेव प्राचीन भारत के और नवीन पाश्चात्य विचारों के गहन अध्येयता थे। उन्हें यह समझने में अधिक समय न लगा कि भारत की गौरवशाली प्राचीन अध्ययन विधि नए संदर्भ में अर्थहीन और निष्प्राण हो गई है। उन्होंने देखा कि भारत का पंडित वर्ग अंधविश्वास के कारण जड़ हो गया है, जिससे विद्या एवं ज्ञान की प्रगति रुकी हुई है। वह इस परिणाम पर पहुंचे कि अध्ययन की वैज्ञानिक पद्धति श्रेष्ठतर है और मानव के इतिहास की वृत्ताकार दृष्टि पर्याप्त नहीं है। वह इस परिणाम पर भी पहुंचे कि ज्ञान को किसी देश या जाति की सीमा में सीमित करने की तथा अपने परंपरागत ज्ञान को अंतिम या सर्वोत्तम समझने की दृष्टि घातक है, उन्हें यह स्पष्ट दिखाई दे रहा था कि आसन्न परिवर्तन को स्वीकार किए बिना भारत अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता का लाभ न उठा पाएगा। वह मानते थे कि हम चाहें या न चाहें, भारत को भी औद्योगिक विकास के परिणामस्वरूप अपने अनेक आचार-विचार और आदर्शों में बुनियादी परिवर्तन करना होगा। पर इस दृष्टि को स्वीकार करना और विशेषकर पुरानी दृष्टि की कमियों को देख पाना, स्वीकार करना और कह पाना विद्वतजनों के लिए भी कठिन था। अतः भारत की समस्याओं का कोई सर्वसम्मत उत्तर न था। सौभाग्य से काशी विद्यापीठ के अध्यापकों में जीवन और समाज की इन गहन और दुरूह समस्याओं पर विचार करने की क्षमता एवं उत्साह रखने वाले कई अध्यापक मौजूद थे। उनमें डा. भगवानदास, आचार्य नरेंद्रदेव, डा. संपूर्णानंद और श्रीप्रकाशजी मुख्य थे। भारत के सामने राजनीतिक परतंत्रता और सामाजिक क्रांति की दोहरी चुनौती थी। इस दोहरी चुनौती का सामना भारत कैसे करेगा इस प्रश्न के प्रति नरेंद्रदेवजी बहुत अधिक सजग और सक्रिय थे। इस समस्या की चुनौती का स्पष्ट भान विद्यार्थियों को हो जाए तो विद्यापीठ कृत्कार्य हो जाए। अध्यापक नरेंद्रदेव के सामने यह एक प्रमुख प्रश्न था। वह विद्यार्थियों को भावी कर्मक्षेत्र के लिए प्रेरित और तैयार करना चाहते थे। उन्होंने अपने मित्र ठाकुर जयदेव सिंह से कहा था कि मैं काशी विद्यापीठ में श्री अरविंद घोष के शिक्षा संबंधी विचारों

का प्रयोग और परीक्षण करूंगा। उनकी इस प्रेरणा ने युग के प्रभाव से मिलकर विद्यापीठ को सजग राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं की ट्रेनिंग का एक मुख्य केंद्र बना दिया। जब यह लेखक 1944-47 के बीच वहां का छात्र था तब भी वहां यह चेतना अपनी सक्रिय सजगता में विद्यमान थी।

आचार्य नरेंद्रदेव 1945 के बाद अध्यापन में अधिक समय न दे सके। वह 1945 की जून में जेल से बाहर आए थे। उसके बाद वह पढ़ाने के इरादे से विद्यापीठ आए। पढ़ाना भी शुरू कर दिया था, पर इसी बीच दमे का भयंकर दौरा पड़ा और वह चारपाई से लग गए। तब रुग्णता और अत्यंत दुर्बलता की दशा में उन्हें विद्यापीठ छोड़कर जाना पड़ा था। उसके बाद पढ़ाने के इरादे से वह कभी नहीं आए। बहुत दिनों तक वह औपचारिक आचार्य बने रहे। और फिर वह भी नहीं रहे। तब वह डा. भगवानदास के स्थान पर कुलपति हो गए और जीवनपर्यंत इस पर बने रहे। वह बीच बीच में विद्यापीठ आते रहे। उनके आने पर हम विद्यार्थी उनके तेजस्वी और प्रखर भाषण की आशा से उत्साहित हो जाते थे।

कक्षा के बाहर पढ़ाई

उनकी पद्धति में शिक्षा पढ़ाई की कक्षाओं में पूर्ण नहीं होती। जीवन एवं समाज की अनेकानेक समस्याओं पर कक्षा से बाहर चर्चा और वाद-विवाद के अधिक से अधिक अवसर देकर शिक्षा के उद्देश्य को पूरा किया जाता था। इसमें अध्यापकों के साथ अनौपचारिक वार्ताएं और शंका समाधान के अवसर शामिल थे।

संयोग से 1944-47 और 1949-52 में, जब मैं वहां का छात्र था, विद्यापीठ में राष्ट्रीय और प्रादेशिक स्तर के अनेक नेता भी बीच बीच में आते रहते थे। इनमें जो विद्वान और विचारक स्तर के होते थे उनके भाषण आयोजित होते रहते थे। उस समय ऐसे नेताओं में समाजवादियों की संख्या सबसे अधिक थी। उन्हें विद्यापीठ अपना घर-सा लगता था। विद्यापीठ के छात्रों को समाजसेवा के लिए प्रोत्साहित किया जाता था। उस समय राजनीतिक कार्य में छात्रों की रुचि को प्रोत्साहन दिया जाता था। विद्यार्थी अकसर प्रचार यात्राओं और सभाओं में सम्मिलित होते थे। कभी कभी अध्यापक भी उनके साथ होते थे। 1947 तक कांग्रेस के अधिवेशनों में यहां के छात्र स्वयंसेवक बनकर जाते थे। चुनाव और संघर्ष दोनों में उनकी भागीदारी रहती थी। शिक्षण का यह कक्षेतर पाठ था। नवंबर 1946 में कांग्रेस का वार्षिक सम्मेलन मेरठ में हुआ था। विद्यापीठ के विद्यार्थियों का एक दस्ता अधिवेशन की तैयारी में मदद करने वहां गया।

नरेंद्रदेवजी की पहल पर विद्यार्थियों की शास्त्रार्थ सभा बनाई गई थी। इसमें

विद्यार्थी अपनी रुचि के विषयों पर वाद-विवाद करते थे। बाद में इसे 'विद्यार्थी परिषद्' का रूप दे दिया गया। इसका एक संविधान और नियमावली तैयार की गई। यह विद्यार्थियों का लोकतांत्रिक संगठन था। इसका ढांचा संसद तथा मंत्रिमंडल के जैसा था। विद्यार्थियों के अनेक क्रियाकलाप इसके माध्यम से होते थे। खेल-कूद, मनोरंजन, हस्तलिखित वार्षिक पत्रिका, वाद-विवाद अर्थात शास्त्रार्थ, विद्वतजनों के भाषण, आदि विद्यार्थी परिषद ही आयोजित करती थी। संक्षेप में यह लोकतंत्र की व्यावहारिक शिक्षा का क्षेत्र था।

निस्पृह और सच्चे देशभक्त श्री लालबहादुर शास्त्री ने तीसरे और चौथे दशक के विद्यापीठ को अपनी जो श्रद्धांजलि दी है उससे तत्कालीन विद्यापीठ का संक्षिप्त और सटीक चरितचित्र प्राप्त होता है। वह यहां प्रस्तुत कर इस अध्याय की इतिश्री करना उचित होगा : "शिक्षा हर स्कूल और कालेज में दी जाती है। लंबे-चौड़े पाठ्यक्रम समाप्त कराए जाते हैं। परंतु जीवन का पाठ इन संस्थाओं में कम ही मिल पाता है। विद्यार्थी और अध्यापक में शिक्षाकाल में जितना अधिक संपर्क रहता है उतना ही विद्यार्थी को वास्तविक लाभ पहुंचता है। विद्यापीठ में यह प्रभूत मात्रा में प्राप्त था. . . विद्यापीठ में हमें जो सबसे बड़ी चीज प्राप्त थी वह वहां के अध्यापक थे, जिनका जीवन अत्यंत सरल और अपूर्व त्याग का था। . . जहां भी और जिस क्षेत्र में भी वहां के पूर्व विद्यार्थी कार्य कर रहे हैं, अपने विचारों में स्वतंत्रता रखते हैं और साधारणतया व्यक्तित्व या रूढ़ियों से प्रभावित नहीं होते। जो शिक्षा उन्हें यहां मिली है उसने उनको एकांगी नहीं बनाया. . . अलग अलग विषयों के प्रोफेसर विद्यापीठ के सब विद्यार्थियों को अपने अपने विषय पर सरल व्याख्यान देते थे। इस प्रकार विद्यापीठ के विद्यार्थियों को जिन्होंने यहां चार वर्ष की शिक्षा पूरी की, अपने साधारण ज्ञान को बढ़ाने का अच्छा अवसर मिलता रहता था, और सार्वजनिक जीवन में इसके कारण उन्हें हर महत्वपूर्ण काम में भाग लेने का अवसर दिया जाता था। . . किसी एक संस्था के द्वारा इतने थोड़े ही काल में सार्वजनिक जीवन को इतने अधिक कार्यकर्ता मिले हों यह पिछले जमाने में कुछ कम ही देखने में आया है, और कार्यकर्ता भी ऐसे जो अपने ज्ञान और कार्य दोनों में कुशल हैं।"

9. शिक्षाविद्

राष्ट्रीय शिक्षा का आंदोलन स्वतंत्रता संघर्ष का अंग था। इसका मुख्य उद्देश्य शिक्षा में राष्ट्रीय भावना को पुष्ट करना था। इस आंदोलन ने अपना यह काम सफलतापूर्वक किया। राष्ट्रीय शिक्षा आंदोलन के द्वारा पाठ्यक्रम में स्वदेशी भाषाओं और स्वदेशी संदर्भों को स्थान दिया गया और लोकतंत्र को राष्ट्रीयता का पूरक मानकर उसका स्वागत किया गया। विद्या एवं ज्ञान के क्षेत्र में यूरोपीय संदर्भों को मर्यादित एवं सीमित करने और भारतीय तथा प्राच्य पृष्ठभूमि और स्रोतों को उनका उचित स्थान देने की कोशिश की गई। इतिहास में ब्रिटेन तथा यूरोप के साम्राज्यवाद को आक्रामक और शोषक की भूमिका में रखा गया और शोषित तथा पराधीन देशों के स्वतंत्रता संघर्षों को गरिमायुक्त मान्यता दी गई। अपनी संस्कृति के गौरव को प्रतिष्ठित किया गया। स्वराज्य प्राप्ति के बाद स्थिति बदल गई। राष्ट्रीय विद्यापीठों की राष्ट्रीय शिक्षा के तत्वों को पूरी भारतीय शिक्षा ने स्वीकार कर लिया। अब राष्ट्रीय शिक्षा के इन पुराने केंद्रों की विशिष्टता के साथ ही उनका महत्व समाप्त हो गया। इस बात को नरेंद्रदेवजी ने बहुत पहले ही समझ लिया था। 1947 की जनवरी में काशी विद्यापीठ की रजत जयंती के अवसर पर अपने एक लेख में राष्ट्रीय शिक्षालयों के ऐतिहासिक महत्व का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा था :

"समाज ऐतिहासिक महत्व रखने वाली संस्थाओं का प्रशंसक होता है, किंतु सहायक नहीं होता। राष्ट्रीय आंदोलनों के अवसर पर इन संस्थाओं की बड़ी आवभगत थी, क्योंकि उस समय यही हमारे गढ़ थे। किंतु उन बातों की याद दिलाना व्यर्थ है। हम अपने गौरव की रक्षा अपनी विशेषता से ही कर सकते हैं, पुरानी सेवाओं के बल पर दूसरों से सहायता मांग कर नहीं। . . . हमको स्वतंत्र रीति से विचार करना होगा कि आज समाज को हमारी आवश्यकता है या नहीं। इस संबंध में यह बात सोचने की है कि राष्ट्रीय शिक्षालयों ने शिक्षा के क्षेत्र में कोई नया अनुसंधान या परीक्षण नहीं किया। हमारी प्रेरणा मुख्यतया राजनीतिक रही है। और इसी कारण विदेशी शासन से जो दोष उत्पन्न होते हैं केवल उन्हीं को दूर करने का प्रयत्न हमने किया है। परंतु जब से प्रांतों में राष्ट्रीय शासन की स्थापना हुई है हमारी यह विशेषताएं

नहीं रह गई हैं। अतः हमको निश्चय करना होगा कि भविष्य में हमारा क्या स्वरूप होगा। यदि हम अपने स्वरूप को नहीं बदलते हैं तो हमारी संस्थाएं निर्जीव हो जाएंगी और साधनों के स्वल्प होने के कारण दूसरी संस्थाओं की अपेक्षा हम निकृष्ट ठहरेंगे।"[1]

उन्होंने इस समय दो पाठ्यक्रमों का सुझाव दिया था। उन्हीं के शब्दों में :

"यह सही है कि अब शिक्षा का अधिकाधिक प्रसार होगा, किंतु शिक्षा के कई कार्य ऐसे हैं जिनका अभी सूत्रपात सरकारी संस्थाओं में नहीं हुआ है। उदाहरण के लिए, समाजशास्त्र का सांगोपांग अध्ययन किसी विश्वविद्यालय में नहीं होता। इसके लिए गैर-सरकारी या सरकार से सहायता न पाने वाली संस्थाओं में जाना पड़ता है। यदि इस कार्य का विश्वविद्यालों में आरंभ किया भी जाए तो भी यह कार्य इतने महत्व का है कि इसके लिए सदा गुंजाइश रहेगी। इसी प्रकार पत्रकार कला की शिक्षा की ओर हमारी शिक्षा संस्थाओं का कम ध्यान है। यह विषय इतने महत्व का है कि इस संबंध में कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है।"[2]

सन् 1938 में उत्तर प्रदेश सरकार ने आचार्य नरेंद्रदेव को माध्यमिक शिक्षा सुधार समिति का अध्यक्ष बनाया था। वही प्रारंभिक एवं माध्यमिक शिक्षा संयुक्त समिति के भी अध्यक्ष थे। उसी काल में जब आगरा, इलाहाबाद और लखनऊ के विश्वविद्यालयों के शिक्षाक्रम, प्रशासन-व्यवस्था आदि की जांच करने के लिए दो समितियां बनाई गई थीं तो लखनऊ और इलाहाबाद के विश्वविद्यालयों की जांच समिति की अध्यक्षता का भार नरेंद्रदेवजी को दिया गया और शिक्षा मंत्री की अनुपस्थिति में संयुक्त समिति की अध्यक्षता भी उन्हें ही करनी थी। फिर 1951 में उत्तर प्रदेश सरकार ने माध्यमिक शिक्षा की प्रगति का मूल्यांकन करने के लिए एक समिति बनाई। उसकी अध्यक्षता के लिए उन्हें ही चुना गया। इसी काल में आचार्यजी ने उत्तर प्रदेश सरकार की संस्कृत शिक्षा सुधार समिति और लिपि सुधार समिति की अध्यक्षता का भार भी वहन किया। इसके पूर्व 1947 में वह देवनागरी सुधार समिति के अध्यक्ष बनाए गए थे। विरोधपक्ष में रहते हुए भी उन्होंने यह दायित्व सहर्ष स्वीकार किया। यह इसलिए कि उनकी दृष्टि में यह राजनीति का नहीं रचना का क्षेत्र था। यह वैयक्तिक मैत्री का प्रसाद न था, बल्कि योग्यता और अनुभव का समुचित सम्मान था। यह याद रखने की बात है कि संपूर्णानंदजी 1937 में ही कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी से अलग हो चुके थे। इस पार्टी ने यह निर्णय किया था कि पार्टी के लोग मंत्रिमंडलों में नहीं जाएंगे। संपूर्णानंद इस नीति से सहमत न थे। वह पार्टी से अलग हो गए। अलग

---

1. *काशी विद्यापीठ हीरक जयंती अभिनंदन ग्रंथ,* काशी विद्यापीठ, वाराणसी, 1983, पृ. 412.
2. वही, पृ. 213.

होने के बाद वह उत्तर प्रदेश सरकार में शिक्षा मंत्री बन गए थे। नरेंद्रदेवजी भाषण में तो चुस्त पर लिखने में आलसी थे। इसका उल्लेख करते हुए संपूर्णानंदजी ने लिखा है कि :

"मेरे जैसे साथियों ने उनसे कई बार कहा कि आप सक्रिय राजनीति से अलग हो जाइए। देश को राजनीतिक बहुत मिल जाएंगे, पर विद्वान जल्दी नहीं मिलता। आप जो कुछ लिख जाएंगे वह देश के लिए तथा विद्वत समाज के लिए आपकी अपूर्व देन होगी।"[1]

इन दो विद्वानों के बारे में श्री महाबीर त्यागी के एक परिहास का उल्लेख श्री भगवतीशरण सिंह ने अपनी रचना *आचार्य नरेंद्रदेव* में इस प्रकार किया है :

"लखनऊ के पुराने विधायक निवास में, जिसे उन दिनों 'ओल्ड कौंसिलर्स रेजीडेंस" कहा जाता था, रात में बड़े नाटकीय ढंग से महाबीर त्यागीजी ने श्री वेंकटेश नारायण तिवारी के कमरे में हांफते हुए प्रवेश किया। तिवारीजी ने आश्चर्य से पूछा कि भाई कहां से भागे आ रहे हो? क्या बात हुई? त्यागीजी ने कहा, "पंडितजी, क्या कहूं, बड़े संकट में फंस गया था। एक चक्की के दो भारी भारी पाटों में फंसकर पिस रहा था। निकलने की कहीं से गुंजाइश नहीं मिल रही थी। बड़ी मुश्किलों से एक जगह जरा-सी दरार मिली और मैं भाग आया हूं।" तिवारीजी ने कहा, "बात को जरा साफ समझाइए, पहेली बुझाने से काम नहीं चलेगा। आपका संकट क्या है?" उन्होंने कहा, "मैं गलती से शाम को उस कमरे में चला गया, जहां संपूर्णानंदजी और नरेंद्रदेवजी बैठे हुए समाजवाद पर चर्चा कर रहे थे। मैंने सोचा कि दो विद्वानों के बीच में बैठकर मैं इस विषय में कुछ जान पाऊंगा। शुरू में तो उनके वाद-विवाद का कुछ अंश समझ में आया भी, परंतु धीरे धीरे उनका पूर्वसंचित ज्ञान पारिभाषिक शब्दों में तर्क के सहारे कुछ ऐसा वृहत होता गया कि मेरी समझ के बिलकुल बाहर हो गया। एक से एक भारी भरकम चट्टानों के सदृश शब्दावली में वे तर्क के पहाड़ एक दूसरे पर फेंके जा रहे थे। दोनों योद्धाओं में से कोई भी किसी को कहीं रुकने का अवसर ही नहीं दे रहा था। ज्ञानबद्ध नेताओं के बीच से सहसा उठ आना भी उनके प्रति अश्रद्धा का भाव प्रकट करना होता। उनके चर्चा के विषय को गूढ़तम होता देखकर मैं भौंचक्का हो रहा था। मेरी स्थिति उस दाने के समान हो गई थी

1. *आचार्य नरेंद्रदेव : ए कमेमोरेशन वाल्यूम*, बी.वी. केसकर तथा वी.के. मेनन (संपादक), नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली, 1971 'विद्वता और सौजन्य की प्रतिमूर्ति' (संपूर्णानंद) पृ. 199. यह लेख *आचार्य नरेंद्रदेव जन्मशती ग्रंथ* में भी है जिसका प्रकाशन रेडियेंट पब्लिशर्स, नई दिल्ली ने 1990 में किया है। देखें पृ. 11-15.

जो चक्की के दो पाटों के बीच पिसता हुआ निकलने की राह न पा रहा हो।" यह सुनकर तिवारीजी बड़े जोर से खिलखिला उठे।"[1]

शिक्षा संबंधी विचार

शिक्षा के संबंध में नरेंद्रदेवजी के विचारों को समझने के लिए जीवन और समाज के बारे में उनके दृष्टिकोण और चिंतन को समझना आवश्यक है। वह भारतीय संस्कृति के गहन अध्येयता और प्रशंसक थे। परंतु इस बात से सचेत थे कि शिक्षा के प्राचीन ढांचे और पद्धतियां नए युग की आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकतीं। यूरोपीय जगत में शिक्षा के जो नए ढांचे और नई पद्धतियां विकसित हुई थीं, वह उनके विचार से उद्योगीकरण और लोकतंत्र की आवश्यकताओं के प्रसंग में अस्तित्व में आई थीं। उन पर अपने अपने राष्ट्रों और परंपराओं की छाप अवश्य थी, पर यूरोपीय और अमेरिकी देशों की राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्थाओं में आधारभूत समानता थी। अतः उसे पाश्चात्य शिक्षा पद्धति न मानकर आधुनिक या उद्योगयुगीन शिक्षा प्रणाली कहना अधिक सही होगा। हां, एक भेद यह अवश्य था कि आचार्यजी के भावी समाज का चित्र समाजवादी था। लेकिन वह इस बारे में निरंतर सावधान थे कि समाजवादी अर्थव्यवस्था कालक्रम में विकसित होगी और उसके अनुकूल जो परिवर्तन होंगे उन्हें प्रयोग और संशोधन की निरंतरता का सामना करना होगा और फिर भी वह औद्योगिक युग की शिक्षा व्यवस्था से अधिक निकट और प्राचीन शिक्षा व्यवस्था से अधिक दूर होगी। उनके सामने यह स्पष्ट था कि भारत में उद्योगीकरण, लोकतंत्र और राष्ट्रीयता के प्रसंग में तथा इन संस्थाओं के निर्माण की क्रमिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर ही शिक्षा व्यवस्था का ढांचा बनाना है। यह एकदम नए विचार न थे। लेकिन नरेंद्रदेवजी की विशेषता यह थी कि उन्होंने राष्ट्र के नवनिर्माण में शिक्षा के महत्व को अधिक गहराई और दृढ़ता से पकड़ा। देश की आधुनिक आवश्यकताओं को तथा प्राचीन संस्कृति एवं विरासत के प्रसंग में नई व्यवस्था के विकास की समस्याओं पर विस्तार से विचार करने वाले उस समय अधिक लोग न थे। उसकी क्षमता रखने वाले तो और भी कम। नरेंद्रदेव देश के उन चिंतकों में थे जिन्होंने चिंतन और व्यवहार दोनों में इसे अपना क्षेत्र बनाया और उसके मूलगामी महत्व को समझा। अन्य चिंतकों में उल्लेखनीय नाम हैं – महात्मा गांधी, रवींद्रनाथ ठाकुर, मदनमोहन मालवीय, अरविंद घोष, लाला हरदयाल, सर सैयद अहमद खां, स्वामी दयानंद सरस्वती, स्वामी श्रद्धानंद, मो. मुहम्मद कासिम और मौलाना

---

1. *आचार्य नरेंद्रदेव*, भगवतीगण सिंह, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, जुलाई 1991, पृ. 121-22.

शिबली आदि। परंतु महात्मा गांधी, मालवीयजी और रवींद्रनाथ ठाकुर के सिवा इन सबने अपनी शिक्षा को सांप्रदायिक घेरे में ही रखा। उन्होंने पूरे राष्ट्र की आवश्यकताओं और सेकुलर (धर्मनिरपेक्ष) लोकतांत्रिक राज्य के अनुकूल शिक्षा व्यवस्था पर अधिक ध्यान नहीं दिया। नरेंद्रदेवजी ने 1951 में अपने भाषण में देश और शिक्षा की दुर्दशा तथा राज्य की निष्क्रिय नीति पर दुख प्रकट करते हुए कहा था, "हम में ऐसे कुछ ही व्यक्ति हैं जिनमें शिक्षा को नई दिशा प्रदान करने की दृष्टि तथा गंभीर बुद्धि है, ऐसे बहुत कम व्यक्ति हैं जिन्हें इस कार्य में सजीव आस्था है। किंतु ऐसे व्यक्तियों की संख्या चाहे जितनी कम क्यों न हो, उन्हें शिक्षा में नए आंदोलन का सूत्रपात करने के लिए एक संगठन अवश्य बनाना चाहिए।"[1]

विश्वविद्यालय में

प्रारंभ में नरेंद्रदेवजी स्वराज्य से प्रकट होने वाली शक्ति के बारे में आशान्वित थे। उन्हें आशा थी कि राष्ट्र की सोई हुई आत्मा का स्फुरण होगा और जनता में राष्ट्र निर्माण की शक्ति का संचार होगा। शुरू के कई साल वह इस भावना से भावित रहे। इसी आशा को लेकर उन्होंने 1948 में 'नव संस्कृति संघ' की स्थापना की और इसी आशा को लेकर 1947 में *जनवाणी* जैसी मासिक पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया।

जनवाणी मासिक दिसंबर 1946 से शुरू हुई थी। इसके प्रथम अंक में उन्होंने इस पत्रिका के उद्देश्य की जो घोषणा की थी उसकी भाषा और भाव से उनकी यह आशा छलकती हुई दिखाई देती है। वह कहते हैं :

"भारतीय समाज में महान परिवर्तन होने वाले हैं। देश में नवजीवन हिलोरें ले रहा है। भारत की अवरुद्ध जीवन शक्ति अब फिर वेगवति हो चली है। भारत का नया मानव अपने सपने को सार्थक करने को निकल पड़ा है। इस नवजीवन प्रवाह को रोकने का प्रयत्न निरर्थक है। इसे रोकने का प्रयत्न सफल नहीं हो सकता।"[2]

वह अदम्य साहस वाले थे। घोर अंधकार में भी दूर प्रकाश का सहारा लेकर वह सदा आशावान रहे। लेकिन यह समझ लेने में उन्हें अधिक समय नहीं लगा कि स्वतंत्रता ने वस्तुतया जनमानस में कोई नया उत्साह पैदा नहीं किया। अतः, उनकी यह आशा एक भ्रम ही सिद्ध हुई। वह जनशक्ति को लेकर भारत के नवनिर्माण की

---

1. *साहित्य, शिक्षा एवं संस्कृति,* संपादक - रमेशचंद्र तिवारी एवं कृष्णनाथ, 'हमारी शिक्षा संबंधी समस्याएं', प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 1988, पृ. 120.
2. *राष्ट्रीयता और समाजवाद,* आचार्य नरेंद्रदेव, ज्ञानमंडल लि., वाराणसी, 1973 (पुनर्मुद्रित), पृ. 359.

यात्रा आरंभ करना चाहते थे। लेकिन वह उभरी ही नहीं थी। इससे उन्हें अवश्य निराशा हुई। शिक्षा की समस्याओं का विश्लेषण करते हुए 1951 में अपने लेख को जिन शब्दों से आरंभ किया वह इस बात के गवाह हैं। वह कहते हैं :

"खेद है कि हमारी नव अर्जित स्वतंत्रता जनता को अनुप्राणित न कर सकी और उससे राष्ट्र की सृजनात्मक शक्ति निःसृत नहीं हुई। हम चारों ओर राजनीतिक प्रश्नों के प्रति घोर निराशा, निवृत्ति और उदासीनता देखते हैं और सबसे बुरी बात यह है कि राष्ट्र की संपदा में कोई वृद्धि होने के बजाय जनता का नैतिक स्तर निरंतर गिरता गया है।. . . इस समय संपूर्ण राष्ट्रीय जीवन भ्रष्टाचार, पक्षपात तथा अनुशासनहीनता में रंग गया है।"[1]

उस समय देश की राजनीति में आचार्य नरेंद्रदेव के अलावा शायद ही कोई ऐसा नेता था, जिसे स्वाधीन भारत की शैक्षिक समस्याओं और आवश्यकताओं की विशद जानकारी हो। शिक्षा का महत्व उनकी दृष्टि में राजनीति से कम न था। शिक्षा और युवक ही उनके आशादीप थे। यही वजह है कि ज्यों ज्यों स्वतंत्रता निकट आती गई त्यों त्यों वह शिक्षा की ओर अधिक झुकते गए। वह उच्च कोटि के शिक्षाविद् थे और राष्ट्र के एकमात्र ऐसे नेता थे जिन्होंने राजनीति के लिए शिक्षा क्षेत्र का त्याग नहीं किया। यद्यपि वह विरोध पक्ष के नेता थे फिर भी शासन के लोगों ने उन्हें लखनऊ विश्वविद्यालय और काशी विश्वविद्यालय का कुलपति बनाया।

देश स्वतंत्र हो गया था। पर विशेषकर उत्तर भारत के विश्वविद्यालय अनुशासनहीनता और अशांति के केंद्र बनते जा रहे थे। विद्यार्थी उद्दंड और उच्छृंखल हो गए थे। लखनऊ और वाराणसी के विश्वविद्यालय इसके लिए विशेष बदनाम थे। प्रदेश और भारत की सरकारें यह देखकर बहुत चिंतित थीं। अनुशासन की इस दुखद एवं दुसाध्य समस्या का सामना करने के इरादे से नरेंद्रदेवजी ने पहले लखनऊ विश्वविद्यालय को चुना। अगस्त 1947 में उन्हें यहां का कुलपति बनाया गया। एक तरह से उनका यह प्रयोग ही था। इस प्रयोग में वह पूरी तरह सफल हुए। रामधन मिश्र उस समय वहां गणित विभाग में रीडर थे। उन्होंने अपने एक संस्मरण में इस सफलता का संक्षेप में यों उल्लेख किया है :

"आचार्यजी के व्यक्तित्व ने विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों और अध्यापक वर्ग दोनों को मर्मतः प्रभावित किया। उनको आचार्यजी की न्यायप्रियता और निष्पक्षता में पूरा विश्वास था। उनके काल में विश्वविद्यालय से चार विद्यार्थियों को निकाला गया। उनमें तीन विश्वविद्यालय की छात्राओं के साथ अपव्यवहार के दोषी थे। एक

---

1. *साहित्य, शिक्षा एवं संस्कृति,* आचार्य नरेंद्रदेव, संपादक - रमेशचंद्र तिवारी तथा कृष्णनाथ, 'हमारी शिक्षा संबंधी समस्याएं', प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 1988, पृ. 108.

छात्र गत वर्ष विश्वविद्यालय छात्र संघ का अध्यक्ष रह चुका था। उनमें से किसी को भी विद्यार्थियों का समर्थन आंदोलन के लिए नहीं मिला। आम तौर से साधारण चेतावनी देकर दोषी विद्यार्थियों को छोड़ दिया जाता था।"[1]

इसी संस्मरण में वह एक ऐसी घटना का उल्लेख करते हैं जो उस समय घटी जब नरेंद्रदेवजी को कुलपति पद पर चुना जा चुका था, पर उस समय तक उन्होंने अपना भार संभाला नहीं था।

"पहली अगस्त, 1947 को एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना घट गई। उस समय वह निर्वाचित कुलपति थे। तिलकजी की जयंती के अवसर पर विश्वविद्यालय के सभाकक्ष में उनका भाषण होने वाला था। एक संगठन उस सभा को अपने तत्वावधान में करना चाहता था। पर जब ऐसा संभव नहीं हुआ, तो आसपास के विद्यालय या विद्यालयों के पचास-साठ लड़कों ने लाठी-डंडे भांजना शुरू कर दिया और साथ ही पत्थर भी फेंके। पत्थर के एक टुकड़े से आचार्यजी को बचाने के प्रयास में चंद्रभानुजी गुप्त चोट खा गए। सभा नहीं हो सकी। मुझे शंका हुई कि कहीं आचार्यजी इस घटना से प्रभावित होकर कुलपति का भार लेने से इनकार न कर दें।"[2]

इस घटना से विश्वविद्यालयों के तत्कालीन वातावरण का कुछ पता लगता है। आचार्यजी ने पांच वर्ष पूर्ण होने के छह या सात महीने पहले ही अपने पद से त्यागपत्र दे दिया, लेकिन छात्रों के और आम अध्यापकों के कारण नहीं। जैसा कि प्रो. मिश्र ने अपने उपर्युक्त संस्मरण में लिखा है, कुछ वरिष्ठ अध्यापकों की गुटबंदी और अड़ंगेबाजी से असंतुष्ट होकर उन्होंने त्यागपत्र दिया। यह कितने खेद की बात है कि अपने ऊंचे पदों से प्रतिष्ठित यह वरिष्ठ अध्यापक अपने मत्सर को समाजहित के समक्ष भी दबा नहीं पाते। जब लखनऊ विश्वविद्यालय के छात्रों को पता चला कि उनके प्रिय कुलपति ने त्यागपत्र दे दिया है, तो उन्होंने त्यागपत्र की वापसी के लिए हड़ताल कर दी और जुलूस निकाले।

काशी विश्वविद्यालय में

शायद 1951 का अक्तूबर महीना था। जवाहरलालजी को पता लगा कि नरेंद्रदेवजी लखनऊ विश्वविद्यालय छोड़ रहे हैं। उन्होंने सोचा कि यदि नरेंद्रदेवजी काशी हिंदू विश्वविद्यालय का कुलपति होना स्वीकार कर लें तो शायद वहां की स्थिति बदले।

---

1. *आचार्य नरेंद्रदेव बर्थ सेंटेनरी वाल्यूम* (अंग्रेजी), प्रेम भसीन मधु लिमये, हरिदेव शर्मा एवं विनोद प्रसाद सिंह (संपादक), 'आचार्य नरेंद्रदेव : ऐज आई सा हिम' (डा. रामधर मिश्र), रेडियेंट पब्लिशर्स, कालकाजी, नई दिल्ली, 1990, पृ. 188.

2. वही, पृ. 187.

इस संबंध में उन्होंने जो प्रयास किया उसकी कुछ प्रत्यक्ष जानकारी श्रीप्रकाशजी को थी, वह उस समय भारत सरकार में मंत्री थे। आचार्यजी से उनका स्नेह और मैत्री का संबंध था। उन्होंने अपने संस्मरण में इस बारे में जो जानकारी हमें दी है वह उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है :

"यह 1951 की बात है। वे लखनऊ विश्वविद्यालय से पदमुक्त होने वाले थे। उन दिनों मैं दिल्ली में मंत्री था। मैं थोड़े ही समय के लिए बनारस आया था। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि सर वी.टी. कृष्णमाचारी और पंडित हृदयनाथ कुंजरू मुझसे मिलने आए हैं। वे चाहते थे कि मैं अपने प्रभाव का उपयोग कर आचार्य नरेंद्रदेव को बनारस हिंदू विश्वविद्यालय का कुलपति पद स्वीकार करने को सहमत करूं। उन्होंने परिस्थितियों पर कुछ भी सोच-विचार करने का समय नहीं दिया और तुरंत नरेंद्रदेवजी को फोन करने के लिए मुझ पर दबाव डाला। मैं ऐसा करने के लिए मना न कर सका। मैं दूसरे दिन ही सवेरे विमान से दिल्ली जाने वाला था। मैंने नरेंद्रदेवजी से लखनऊ के हवाई अड्डे पर मिलने का निवेदन किया जिसे उन्होंने कृपाकर स्वीकार कर लिया। वहां उनसे मेरी बातचीत हुई और वे हिंदू विश्वविद्यालय के अधिकारियों का आमंत्रण स्वीकार करने के लिए सहमत हो गए। हिंदू विश्वविद्यालय के कुलपति की नियुक्ति के संबंध में नियम यह है कि कार्यकारिणी द्वारा सुझाए गए तीन नामों में से किसी एक का चयन राष्ट्रपति (विजिटर) करते हैं। अतः ऐसे नामों को राष्ट्रपति डा. राजेन्द्र प्रसाद जी के पास भेजा गया।

"कुछ दिनों बाद मुझे सर वी.टी. कृष्णमाचारी ने टेलीफोन पर बताया कि राष्ट्रपति आज ही निर्णय लेने वाले हैं और आप उनसे मिलकर आचार्य नरेंद्रदेव की नियुक्ति सुनिश्चित कर दें। मैं तुरंत राष्ट्रपति के पास गया। जब मैंने अपनी भेंट का उद्देश्य बताया तो उन्होंने कहा कि, "आपने कुछ देर कर दी। मैंने अभी आदेश देकर अमुक को चुन लिया है। . . इसके बाद मैं वापस आ गया। लेकिन जब पत्रावली शिक्षामंत्री मौलाना अबुल कलाम आजाद के पास पहुंची तो वे दौड़कर राष्ट्रपति के पास पहुंचे और आदेश बदलवाकर नरेंद्रदेवजी को नियुक्त कराया।

"हिंदू विश्वविद्यालय उन दिनों चर्चा में था। हर समय हर प्रकार की समस्या बनी रहती थी। लेकिन नरेंद्रदेवजी के कार्यकाल में सब कुछ शांत रहा। एक बार जवाहरलालजी ने मुझे बताया कि यह सब कुछ आचार्यजी के व्यक्तित्व के कारण है, अन्यथा वास्तव में इस विश्वविद्यालय में सब कुछ गड़बड़ है।"[1]

---

1. *आचार्य नरेंद्रदेव कमेमोरेशन वाल्यूम,* संपादक - बी.वी. केसकर एवं वी.के.एन. मेनन, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली, 1971, पृ. 126-127। यही लेख रेडियेंट पब्लिशर्स, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित (1990) *आचार्य नरेंद्रदेव सेंटेनरी वाल्यूम* में भी छपा है।

इस घटना से निश्चय ही उस समय के उन मधुर संबंधों और परस्पर विश्वास पर प्रकाश पड़ता है जो राजनीतिक विरोधियों के बीच कभी मौजूद था। वह स्वतंत्र भारत का ऊषाकाल था और हमारे राष्ट्रीय नेताओं में लोकतंत्र के उत्कृष्ट मान जीवंत रूप में विद्यमान थे। विश्वविद्यालयों को लेकर कुछ कम होड़ विभिन्न राजनीतिक दलों के बीच न थी। राजनीतिक लोगों के लिए विद्यार्थियों की भरती और साथ ही अध्यापकों की नियुक्तियों तथा प्रोन्नति के प्रश्न भी कुछ कम महत्व के न थे। कुछ तो उस समय के लोकतांत्रिक जीवंत आदर्शों की छाया थी और कुछ यह बात भी थी कि उस समय के राजनीतिक नेताओं में कुछ ऐसे विशिष्ट नेता थे जिनकी न्यायप्रियता और निष्पक्षता पर उनके शत्रु भी भरोसा करते थे। नरेंद्रदेवजी उन्हीं विरले नेताओं में थे।

छात्रों को विश्वास था कि पक्षपात से ऊपर उठे उनके कुलपति का न्याय और सहानुभूति विश्वविद्यालय के सब छात्रों को समान रूप से प्राप्त है। विद्यार्थियों के लिए उनका दरबार हर समय खुला था। फलतः उनके कार्यकाल में न तो छात्रों की और न ही अन्य कर्मचारियों की हड़ताल हुई और न ही कोई हुड़दंग।

विश्वविद्यालय के शैक्षिक और प्रशासनिक कार्यों में तो उनको अपना समय देना ही होता था, और उनके सिर पर अन्य कार्यों का भार भी बहुत था। कुलपति के नाते कक्षा में पढ़ाना उनके लिए आवश्यक न था, पर समय निकाल कर प्राकृत और पालि भाषाओं का अध्यापन करते थे। राजनीतिक कार्य भी कम न थे। राजनीतिक सम्मेलन और सभाएं शिक्षा सम्मेलनों और बैठकों से कम न थीं। पुराना कष्टकारी दमा, दुर्बल स्वास्थ्य और बढ़ती उम्र इतना अधिक भार सहने की हालत में नहीं थी। लेकिन विद्यार्थियों से कट कर रहना उन्हें स्वीकार न था। बार बार लंबे और कष्टकारी दमे के दौरों से विश्वविद्यालय के कार्य में बाधा पड़ने लगी। पर न तो विद्यार्थी वर्ग को और न ही अध्यापक एवं कर्मचारी वर्ग को उनका वियोग स्वीकार था। फिर भी दिनों-दिन बिगड़ते हुए स्वास्थ्य से तंग आकर अंत में उन्होंने त्यागपत्र देने का निर्णय किया।

विद्यार्थियों के दिल को उन्होंने अपने त्यागमय निर्मल चरित्र, सादे जीवन और न्यायसंगत, निष्पक्ष व्यवहार से जीता था। वह सदा विधि और नियमों की मर्यादाओं में रहकर ही अपने निर्णय करते थे। विशेष अधिकारों के वह विरुद्ध थे और बड़े से बड़े पदासीन लोगों की सिफारिशों को अमान्य कर देते थे। एक बार उत्तर प्रदेश की राज्यपाल और लखनऊ विश्वविद्यालय की कुलाधिपति श्रीमती सरोजनी नायडू ने किसी विद्यार्थी के प्रवेश की सिफारिश की। आचार्यजी ने देखा कि वह नियम के तहत उसको प्रवेश नहीं दे सकते, और अंत में वैसा ही निर्णय उन्होंने किया।

विद्यार्थियों पर नरेंद्रदेवजी के प्रभाव का एक और आधार था। उन्होंने लखनऊ और वाराणसी दोनों जगह अपने दो हजार प्रतिमास वेतन का 40 प्रतिशत भाग निकालकर एक छात्र कल्याण निधि बनाई थी। इस निधि में केंद्रीय और प्रदेशीय सरकारों से भी धन लिया जाता था। इसका उद्देश्य प्रतिभावान और निर्धन छात्रों की मदद करना था। इससे प्रतिवर्ष सैकड़ों छात्रों को छात्रवृत्ति और अन्य सहायता दी जाती थी। प्रो. मुकुटबिहारी लाल उस समय काशी विश्वविद्यालय में राजनीतिशास्त्र के अध्यक्ष थे। उनके अनुसार 1952-53 में इस निधि से 284 छात्रों को और 1953-54 में करीब एक हजार छात्रों की सहायता की गई थी। उनके काम और व्यवहार से आम अध्यापक संतुष्ट और प्रसन्न थे। दोनों विश्वविद्यालयों में पठन-पाठन का वातावरण बना। अनुसंधान पर अधिक बल दिया जाने लगा। अध्यापक वर्ग में विश्वविद्यालय के प्रति उत्तरदायित्व की भावना जगी और भारतीय संस्कृति के प्रति आदर और गंभीरता का भाव पैदा हुआ। भारतीय संस्कृति के विवेचन में आचार्यजी की विशिष्ट दृष्टि थी। उसकी तह में इतिहास-दर्शन और मानवीय मूल्यों का मान था। विश्वविद्यालय के प्रख्यात प्रोफेसर डा. डी.पी. मुखर्जी उनका स्मरण करते हुए कहते हैं :

"भारतीय संस्कृति की उनकी समझ का सामाजिक शक्तियों से गहरा संबंध था। उन्हें केवल पालि और प्राकृत के अध्यापन और प्रायः होने वाले अपने बौद्ध दर्शन के व्याख्यानों से संतोष नहीं होता था। भारतीय संस्कृति और विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्य पर सामाजिक शक्तियों के प्रभाव को लेकर उन्होंने विचार-विमर्श कराए और देश के अच्छे से अच्छे लोगों को भारतीय संस्कृति पर निबंध पढ़ने को बुलाया। हमें सदा भारतीय संस्कृति के ऊपर गतिशीलता के साथ विचार करने, बोलने और लिखने को प्रेरित करते थे। उनकी गतिशील दृष्टि इतिहास और समाजशास्त्र की उपज थी।"[1]

अनुशासन

छात्रों के अनुशासन के बारे में आचार्यजी का स्पष्ट मत यह था कि वह अध्यापकों के व्यवहार पर निर्भर है। उनका निजी अनुभव यह था कि यदि अध्यापक अध्यापन में कुशल है और अपना कार्य परिश्रम के साथ करता है तो सहज ही वह विद्यार्थियों का आदर प्राप्त कर लेता है। आचरण और व्यवहार भी वह अपने माता-पिता और गुरुजनों के अनुकरण से सीखता है। अनुशासन के मामले में न तो उपदेश प्रभावी होते हैं और न डर ही टिकाऊ परिणाम देता है।

---

1. *आचार्य नरेंद्रदेव : बर्थसेंटेनरी वाल्यूम* (अंग्रेजी), संपादक - प्रेम भसीन, मधु लिमये, हरिदेव शर्मा एवं विनोद प्रसादसिंह, 'आचार्य नरेंद्रदेव' रेडियेंट पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1990, पृ. 196.

कुछ लोग अनुशासन और नैतिक उत्थान के लिए विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा को आवश्यक समझते हैं। नरेंद्रदेवजी का मत बिलकुल दूसरा था। उनका तर्क यह था कि धर्मों की नैतिकता मध्ययुगीन और सामंती है। दूसरे, सभी धर्मों में अंधविश्वासों का भारी मिश्रण है और तर्क या अनुभव के बजाए उनका सारा बल शब्दप्रमाण और अंधनिष्ठा पर है। किंतु घटनाओं और कहानियों द्वारा महापुरुषों के नैतिक गुणों का परिचय लाभकर हो सकता है। पर इसके लिए किसी विशिष्ट संप्रदाय या केवल धार्मिक क्षेत्र के लोगों को चुनना ठीक नहीं है। संसार के सभी महापुरुषों को लेना चाहिए।

भारत के अनेक धर्म संसार से विमुख होने की शिक्षा देते हैं, और इस संसार को दुखमय तथा जंजाल मानते हैं। वे संसार से भागना सिखाते हैं, समाज की रचना करने का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर, नए युग के मूल्यों और नई नैतिकता का भी उनमें अभाव है। अतः नए युग के अनुकूल नैतिकता का शिक्षण सांप्रदायिक या धार्मिक शिक्षा से नहीं होगा। हमें सेकुलर या असंप्रदायिक नैतिकता की आवश्यकता है। अपने अपने धर्म में आस्था तो सबकी है पर यह आस्था उन्हें व्यवहार में नैतिक नहीं बनाती। वह मानते हैं कि समाज में रहकर ही नैतिक गुणों का विकास होता है। "नैतिक सद्‌गुण मनुष्य की सामाजिक प्रकृति का सार है, इसलिए मनुष्य का नैतिक विकास समाज और समुचित सामाजिक वातावरण में ही हो सकता है। इसी कारण हमारे प्रयास केवल वैयक्तिक न होकर मूलतया सामाजिक होने चाहिए।"[1]

शिक्षा का ध्येय

यह सवाल अकसर उठाया जाता है कि शिक्षा को जीवन के ध्येय से संबद्ध होना चाहिए। सत्य, सौंदर्य और शुभ की प्राप्ति को आचार्यजी ने मानव-जीवन और व्यक्ति का ध्येय माना है। इसके लिए व्यक्ति का आत्मविकास आवश्यक है। लेकिन क्या वह समाज की सहायता के बिना अपना विकास कर सकता है? नरेंद्रदेवजी कहते हैं, "यह संभव नहीं है। मानव व्यक्तित्व का निर्माण समाज के बिना संभव नहीं। अतः सामाजिक होना मनुष्य की विवशता है। इतना ही नहीं वह उसका सद्‌गुण है। उत्कृष्ट मानव वह है जिसकी सेवा समाज को अर्पित है, जिसमें करुणा और सहयोग की वृत्ति है। समाज मानव को बनाता है तो मानव समाज को। वह एक-दूसरे के पूरक भी हैं और एक-दूसरे में अनुस्यूत भी।" शिक्षा का उद्देश्य देश के युवकों को भावी जीवन के लिए तैयार करना है, किंतु जीवन की परिस्थिति में निरंतर परिवर्तन होता रहता है, अतएव नवयुवकों की शिक्षा भी स्थिर जीवनदर्शन पर आधृत नहीं हो

1. *पालिसी स्टेटमेंट (प्रजा सोशलिस्ट पार्टी* - 1955), आचार्य नरेंद्रदेव, प्रजा सोशलिस्ट प्रकाशन, 1959, पृ. 39.

सकती। परिवर्तनशील जगत की आवश्यकता पूरी करने के लिए शिक्षा को गत्यात्मक बनाना पड़ेगा, उसमें आधुनिक समाज की आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं पर शेष विश्व की दृष्टि से विचार करना होगा, विद्यार्थियों में जीवन के उन मूल्यों की प्रतिष्ठा और प्रचार करना होगा जो आधुनिक जगत की प्रगति के लिए आवश्यक हैं। वर्तमान जीवन पर विज्ञान की छाप को स्वीकार करना पड़ेगा और यह मानना पड़ेगा कि विज्ञान और यंत्रकला (तकनीकी) हमारी अनेक आवश्यकताओं को हल करने में सहायक सिद्ध होंगे।[1]

शिक्षा की समस्याएं और आवश्यकताएं

जैसा कि पीछे उल्लेख किया गया है, आचार्यजी ने भारत की शिक्षा पर उसकी संपूर्णता में विचार किया था। उन्होंने प्राथमिक से विश्वविद्यालय स्तर तक की सब प्रकार की शिक्षा, उसकी अनेक आवश्यकताओं और समस्याओं पर अलग अलग दृष्टिपात भी किया। अध्यापकों का वेतन, उनका प्रशिक्षण, शिक्षा की पद्धति, उसका माध्यम, प्राथमिक, माध्यमिक और महाविद्यालय की शिक्षा में सहसंबंध उनके पाठ्यक्रम आदि आदि।

शिक्षा के माध्यम पर उनका मत था कि सभी प्रदेशों में विश्वविद्यालय स्तर की पढ़ाई राष्ट्रभाषा के माध्यम से की जाए और उसके पहले की शिक्षा का माध्यम प्रादेशिक भाषा हो। उनका यह भी सुझाव था सभी भाषाओं की एक लिपि हो ताकि एक प्रदेश के लोगों को अन्य सभी प्रदेशों की भाषाओं को सीखना आसान हो जाए। वह अंग्रेजी की पढ़ाई के विरोधी नहीं थे। वह बढ़ते हुए अंतर्राष्ट्रीय संपर्क की भाषा के रूप में उसका स्वागत करते थे। हिंदी को वह देश की राष्ट्रभाषा मानते थे और उसमें उच्चतम साहित्य एवं वांगमय की रचना के पक्षधर थे। वह मौलिक लेखन के अतिरिक्त उसे अनुवाद द्वारा दुनिया की समृद्धतम भाषाओं में स्थान दिलाना चाहते थे। पूसे द्वारा संपादित बौद्ध दर्शन के प्रसिद्ध और दुरूह ग्रंथ *अभिधर्मकोश* का अनुवाद उन्होंने हिंदी में इसी हेतु किया। आचार्यजी ने शुरू में इसके कई अध्यायों का अनुवाद अंग्रेजी में किया था, लेकिन बाद में हिंदी की महत्ता को बढ़ाने के विचार से हिंदी में किया। इसमें संदेह नहीं कि यदि बौद्ध दर्शन के इस अनुपम ग्रंथ का अनुवाद अंग्रेजी भाषा में होता तो उन्हें यश और धन दोनों विपुलता से प्राप्त होते। किंतु अपनी निष्ठा और स्वभाव के अनुसार उन्होंने वैसा न कर हिंदी को वरीयता दी।

---

1. *शिक्षा, साहित्य एवं संस्कृति*, आचार्य नरेंद्रदेव, संपादक - रमेशचंद्र तिवारी एवं कृष्णनाथ, 'हमारी शिक्षा संबंधी समस्याएं', प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 1988, पृ. 111.

उनका यह भी मत था कि यूरोपीय भाषाओं की पढ़ाई के अलावा हमें महाविद्यालयों में विशेषकर दक्षिण पूर्वी एशिया के देशों की भाषाओं को सीखने की व्यवस्था करनी चाहिए और हमारे अनुसंधानकर्ताओं को इन देशों के आर्थिक विकास का अध्ययन करने को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। वह सामाजिक ज्ञान के पाठ्यक्रम को सब विभागों के विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य करने के पक्ष में थे। देर से ही सही, लेकिन उनका यह सुझाव मान लिया गया।

गांधीजी उत्पादक श्रम, कृषि एवं दस्तकारी को शिक्षा से जोड़ना चाहते थे। उन्होंने अपनी शिक्षा पद्धति को 'बुनियादी शिक्षा' का नाम दिया। इस पद्धति के काम में आने वाली या आसपास के परिवेश में सुलभ वस्तुओं का संदर्भ के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। वह शिल्प तथा कृषि आदि के कार्य द्वारा बच्चों की पढ़ाई को आत्मनिर्भर करने की बात कहते थे। आचार्यजी ने उनके पहले सुझाव को सिद्धांत में तो स्वीकार किया किंतु व्यवहार में दुसाध्य बताया, और शिक्षा में आत्मनिर्भता के सिद्धांत से बिलकुल सहमत न थे। उन्होंने सुझाव दिया कि प्रत्यक्ष और अनुभवात्मक ज्ञान के लिए बच्चों की पढ़ाई में कला और शिल्प दोनों को स्थान दिया जाए।

उनकी दृष्टि में राष्ट्रनिर्माण की आधुनिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सबसे अधिक महत्व विश्वविद्यालयी शिक्षा का है, क्योंकि यहीं से निकलकर देश को तरह तरह के विशेषज्ञ मिलेंगे और यहीं से निकले युवकों में देश को राजनेता एवं प्रशासक प्राप्त होंगे। यही विद्याकेंद्र उच्च कोटि के वैज्ञानिक एवं तकनीकविदों और सामाजिक विज्ञानों के अनुसंधानकर्ताओं को भी पैदा करेंगे। ऐसे स्नातकों में विविधतापूर्ण देश और परिवर्तनशील जगत में दिशा-निर्धारण की योग्यता होनी चाहिए। इन विद्याकेंद्रों की तत्कालीन दशा उनकी चिंता का कारण थी। उन्हें विश्वास था कि यदि इन केंद्रों को ठीक से विकसित किया जाए तो यह राष्ट्र की बढ़ती हुई मानव संसाधन संबंधी आवश्यकता को पूरा कर सकते हैं। इन संस्थाओं की दिनों-दिन बिगड़ती हुई दशा से देश के कर्णधार बहुत चिंतित थे। आचार्यजी यद्यपि शासन में न थे, परंतु एक राष्ट्रभक्त, राजनीतिक नेता और राष्ट्र के नवनिर्माण के प्रतिबद्ध नागरिक थे। वह मानते थे कि इन विद्याकेंद्रों में देश का जो युवावर्ग है उसे अध्यापक वर्ग से ठीक मार्गदर्शन नहीं मिल रहा है। युवावर्ग को प्रेरित कर उसकी शक्ति को रचना की ओर मोड़ने की आवश्यकता है। यदि ऐसा न हुआ तो भारत का भविष्य अंधकारमय है।

मतभेद के बिंदु – गांधी और नरेंद्रदेव

नरेंद्रदेवजी की शिक्षा-पद्धति और गांधीजी की शिक्षा-पद्धति में अंतर मुख्यतया भारतीय समाज की भावी रचना की भिन्नता से उत्पन्न है। गांधीजी के समाज का चित्र

ग्रामस्वराज और कुटीर उद्योगों से बनता है। उनकी समझ में यूरोप का औद्योगिक समाज मानवता के लिए शाप है। गांधीजी ने प्रतिपादित किया कि उत्पादन क्रिया के माध्यम से ज्ञान की उपलब्धि अधिक सार्थक और अपेक्षतया कम समय में होती है। उनकी पद्धति में इस कार्य के लिए मुख्यतया उत्पादन क्रिया ही सार्थक क्रिया है और संबंधित क्रियाओं और वस्तुओं को ज्ञान का वाहक बनाया जाता है। यह काम एक वस्तु से दूसरी वस्तु का और वस्तु से ज्ञान का सहसंबंध स्थापित करके किया जाता है। दूसरे, गांधीजी विद्यार्थियों के उत्पादक श्रम द्वारा शिक्षा को आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाने के पक्ष में हैं। ग्राम उनके स्वराज की सबसे महत्वपूर्ण इकाई और कृषि तथा ग्रामोद्योग शिक्षा की सबसे महत्वपूर्ण सामग्री है।

नरेंद्रदेवजी के भावी समाज का चित्र गांधीजी के चित्र से भिन्न है। वह भावी भारत को मुख्यतया एक औद्योगिक समाज के रूप में देखते हैं और स्वराज में शासनं की केंद्रीय तथा प्रादेशिक इकाइयों को महत्वपूर्ण स्थान देते हैं। ग्राम-समाज शासन की एक इकाई है, जिसका महत्व कई कारणों से घट रहा है। अतः उन्होंने स्वतंत्र भारत की शिक्षा को औद्योगिक समाज की आवश्यकताओं के अनुकूल बनाने की कोशिश की। उन्होंने गांधीजी की बेसिक शिक्षा से उद्योग और कृषि को कला एवं शिल्प के रूप में ग्रहण किया, जिसमें आवश्यकतानुसार ग्राम उद्योग और कृषि का भी समावेश है। यह विचार रवींद्रनाथ ठाकुर की रचनात्मक क्रिया के विचार के अधिक निकट है। नरेंद्रदेवजी ने यह स्वीकार किया कि क्रिया और प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित शिक्षा में ज्ञान का वाहन अधिक तीव्रता से और अधिक सार्थकता से होता है। पर साथ ही यह माना कि यह विधि व्यावहारिक नहीं है, विशेषकर जबकि शिक्षा का प्रसार तीव्र गति से और व्यापक रूप से करना है। उनका यह भी मत है कि सब प्रकार का ज्ञान रचनात्मक क्रियाओं के माध्यम से प्रेषित नहीं किया जा सकता। आचार्यजी आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर शिक्षा को भी अव्यावहारिक मानते हैं। उत्तर प्रदेश में 1938 में प्राथमिक शिक्षा और माध्यमिक शिक्षा के सुधार के लिए जो समितियां बनी थीं उनकी संयुक्त समिति के और माध्यमिक शिक्षा समिति के अध्यक्ष नरेंद्रदेवजी थे। अतः उत्तर प्रदेश में बुनियादी शिक्षा को कुछ सुधार के साथ स्वीकार किया गया था। इसके साथ ही नरेंद्रदेव की दृष्टि स्वतंत्र भारत के भावी प्रशासन को चलाने वाले प्रशासकों की ओर कुछ अधिक थी। इसके अतिरिक्त औद्योगिक समाज के लिए अनेक प्रकार के वैज्ञानिकों, प्रबंधकों और तकनीकविदों की आवश्यकता को उन्होंने ध्यान में रखा। उनके सामने यह स्पष्ट था कि इन विशेषज्ञों की उत्तरोत्तर अधिक संख्या की आवश्यकता स्वतंत्र भारत को होगी, जिसे भारत के पूंजीपति वर्ग की शक्ति और सुविधा के भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता।

इस शिक्षा-प्रणाली में राज्य की महत्वपूर्ण और केंद्रीय भूमिका है। गांधीजी शिक्षा में राज्य की भूमिका को समन्वयात्मक प्रयासों तक सीमित रखने के पक्ष में हैं। वह नीचे से लेकर उच्चतम स्तर तक की शिक्षा को सरकार के नियंत्रण से मुक्त रखने के पक्षधर हैं।

उच्चस्तरीय शिक्षा के भाषाई माध्यम के बारे में भी गांधीजी और नरेंद्रदेवजी के मत अलग अलग हैं। नरेंद्रदेवजी विश्वविद्यालयी शिक्षा का माध्यम हिंदी को बनाने के पक्ष में हैं। इसके विपरीत गांधीजी और रवींद्रनाथजी ठाकुर मातृभाषा को ही आरंभ से अंत तक शिक्षा का उपयुक्त माध्यम मानते हैं। एक दूसरा अंतर शिक्षा में धर्म के स्थान को लेकर है। गांधीजी विभिन्न धर्मों में समन्वय के पक्षधर हैं और शिक्षां-प्रणाली में धर्म की शिक्षा के विरोधी नहीं हैं। तो भी, उनकी धार्मिक शिक्षां का मुख्य अर्थ है सभी धर्मों में निहित सदाचरण और नैतिकता की सामान्य शिक्षा। नरेंद्रदेवजी धर्मों का आधार लिए बिना नैतिकता और सदाचरण की शिक्षा के समर्थक हैं। स्थापित धर्मों-संप्रदायों को वह मध्ययुगीन तथा वर्गीय मूल्यों और अंधविश्वासों से युक्त समझते हैं। नरेंद्रदेवजी की नैतिकता का आधार समाज और सेकुलरवाद में है। उनकी इस बारे में समझ यह है कि विभिन्न धर्मों में समन्वय संभव नहीं है, वह एक-दूसरे के प्रतियोगी हैं और परस्पर विरोधी विश्वासों एवं अंधविश्वासों वाले हैं जिनका निराकरण संभव नहीं है।

नरेंद्रदेवजी की शिक्षा-योजना में नागरिकता और लोकतंत्र की शिक्षा का महत्वपूर्ण स्थान है। वह लोकतंत्र की दलीय और संसदीय प्रणाली को स्वीकार करते हैं और लोकतंत्र को जीवन-प्रणाली के रूप में देखते हैं। अतः इसके लिए उपयुक्त शिक्षण का प्रावधान करते हैं। गांधीजी संसदीय तथा दलीय प्रणाली के आलोचक और निंदक हैं। वह सदाचार और नैतिकता की शिक्षा में नागरिकता की शिक्षा को समाविष्ट मानकर चलतें हैं। उन्हें मुख्यतया ग्राम-रचना के कर्मियों की आवश्यकता है। वहीं से उच्च कक्षा के कर्मी एवं तकनीकज्ञ अनुभव तथा परवर्ती प्रशिक्षण के बाद मिलते जाएंगे। उनकी योजना में उद्योगों की पूर्ति के लिए विविध प्रकार के विज्ञानों और इंजीनियरिंग आदि की शिक्षा का भार उद्योगपति वर्ग का दायित्व है।

दोनों शिक्षाविदों की शिक्षा-प्रणालियों में समानता के अनेक बिंदु हैं। दोनों की शिक्षा का मुख्य मुद्दा यह है कि कर्तव्यशील और समाजोन्मुख नागरिक कैसे तैयार किए जाएं? सत्य और अहिंसा का गांधीजी का संदेश मानव-मात्र के लिए है। वह विश्वव्यापी बंधुता और नागरिकता में आस्था रखते हैं। नरेंद्रदेवजी भी विश्वबंधुता के पोषक और समर्थक हैं। वह उग्र राष्ट्रवाद के विरोधी हैं, और राष्ट्रीय भावना को अंतर्राष्ट्रीय भावना से मर्यादित करते हैं। अतः गांधीजी, नरेंद्रदेवजी और रवींद्रनाथजी

सभी समान रूप से शिक्षा के माध्यम से विश्वबंधुत्व की भावना को पुष्ट करने के पक्ष में है। नरेंद्रदेवजी ने राष्ट्रीय भावना के प्रसंग में विश्वबंधुत्व के इस तत्व को उजागर किया है। वह कहते हैं, "हमें राजनीतिक स्वतंत्रता बहुत देर में ऐसे युग में मिली है जबकि राष्ट्रीय भावना जनतांत्रिक समाजवाद के द्वारा पराभूत हो चुकी है। एक अर्थ में यह अच्छा है, क्योंकि इससे राष्ट्रीयता की अति नहीं हो सकती।"[1]

गांधीजी और रवींद्रनाथजी ठाकुर में एक मतभेद उद्योग को शिक्षा का साधन बनाने को लेकर है। रवींद्र बाबू शिक्षा को आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाने की कल्पना नहीं करते। वह कला को अपनी शिक्षा में विशेष स्थान देते हैं। उनकी दृष्टि में शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को अपने परिवेश से और समस्त विश्व से सुसंगति तथा समरसता स्थापित करने में मदद करना है। वह प्रकृति को ज्ञान का अकूत भंडार मानकर चलते हैं। गांधीजी भी मनुष्य को प्रकृति के निकट रखने के पक्षधर हैं, और भारतीय संस्कृति का हृदय वन्य संस्कृति में मानते हैं।

नरेंद्रदेवजी की शिक्षागत दृष्टि की एक स्पष्ट झलक उनके उस वक्तव्य में मिलती है जो उन्होंने मार्च 1949 में दिया था और जो उनके समाजवादी पार्टी के गया सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण का अंग है। वह कहते हैं :

"शिक्षा के महत्व को समझना होगा, क्योंकि शिक्षा के माध्यम से ही राष्ट्र के तरुणों में प्रजातांत्रिक तरीकों की आदतें डाली जा सकती हैं। देश के उन तरुणों को जो ध्वंसात्मक सिद्धांतों के विषैले प्रभाव में आ गए हैं, पुनः शिक्षण द्वारा इसके दुष्परिणामों से बचाना है और इसके लिए हमारे शिक्षा केंद्रों में जनतांत्रिक विचारों एवं भावों का वातावरण तैयार करना है। इस नए कार्य में देश के विश्वविद्यालय प्रमुख भाग ले सकते हैं। इन विश्वविद्यालयों को सृजनात्मक विचारों का केंद्र स्थल बन जाना है। यहां अध्येताओं को अपने अध्यापकों के निकट संपर्क में आने और निरंतर विचारों का आदान-प्रदान करने का अवसर मिले। इसी कारण शिक्षण संस्थाओं को देश के जीवन से अलग नहीं रहना चाहिए और इसे मान लेने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिए कि गौरवदायी पार्थक्य की नीति निश्चित रूप में हानिकारक है। वर्तमान समस्याओं पर तर्क-वितर्क करने को प्रोत्साहन मिलना चाहिए और अध्यापकों को देश के सामाजिक और राजनीतिक जीवन में भाग लेने का अधिकार मिलना चाहिए। विश्वविद्यालयों को बढ़ते हुए अधिनायकवाद और उसी तरह के सिद्धांतों

---

1. *नरेंद्रदेव : व्यक्ति और विचार* (आचार्य नरेंद्रदेव के लेखों की एक छोटी चयनिका) अजय कुमार (संपादक), आचार्य नरेंद्रदेव समाजवादी संस्थान, वाराणसी, 1989, पृ. 36, इसमें *राष्ट्र रचना का संदेश* शीर्षक से जो लेख दिया गया है यह नरेंद्रदेवजी के 1955 के प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण का अंश है।

के कुप्रभावों से मोर्चा लेने में प्रमुख भाग लेना चाहिए। लोकतंत्र को पुष्ट करना और नवयुवकों को अपनी आजीविका के लिए ही नहीं बल्कि नागरिकता के दायित्वों का पालन करने के लिए भी तैयार करना इन विश्वविद्यालयों का दायित्व है। वह अपने विद्यार्थियों को स्पष्ट और साहसपूर्ण चिंतन करना और सत्य को स्वीकार करना सिखाएं, चाहे सत्य प्रिय लगे या अप्रिय। शिक्षा एक सतत प्रवाह है। इसलिए समय समय पर मन का परिष्कार आवश्यक है, जिससे चित्त उस सामाजिक चेतना के गुण से वंचित न हो जाए जिसकी मानव-विकास के लिए अत्यंत आवश्यकता है। पाठ्यक्रमों में विज्ञान और मानविकी दोनों प्रकार के विषयों का समावेश होना चाहिए। यह प्रयास किया जाना चाहिए कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ देश के युवकों के हृदय में सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यों का महत्व उजागर हो जाए। हमें यह याद रखना है कि विज्ञान के विकास और सामाजिक समस्याओं पर उसके प्रयोग से ही संस्कृति का समाजीकरण तथा दरिद्रता का निवारण संभव हुआ है। प्राचीन समाज में, जबकि समाज के आर्थिक ढांचे को मूलतया परिवर्तित करना संभव न था, दयालुजन, जो दरिद्रों और दलितों की दशा पर द्रवित होते थे, धनीमानी व्यक्तियों को उनके प्रति उदारता बरतने का उपदेश ही दे सकते थे। यह विज्ञान ही है जिसने हमारे लिए उन नवीन मूल्यों को प्रस्तुत किया है, जिनके सहारे हम सामाजिक न्याय एवं समता प्राप्त कर सकते हैं। समाजवाद निश्चय ही एक स्वप्न मात्र रह जाता और एक विश्वव्यापी आंदोलन का वर्तमान स्वरूप कभी न प्राप्त करता, यदि विज्ञान और तकनीकी विद्या ने बहुलता का युग न ला दिया होता। किंतु वैज्ञानिक दृष्टिकोण को मानव मूल्यों में आस्था रखकर ही आगे बढ़ना है, जिससे निकृष्ट प्रयोजनों की सिद्धि के लिए विज्ञान का दुरुपयोग न हो। वैज्ञानिक ज्ञानकों को सभ्यता के विकास तथा कल्याणकर उद्देश्यों की पूर्ति के निमित्त समाज की सेवा में अर्पित होना होगा।"[1]

---

1. *राष्ट्रीयता और समाजवाद,* आचार्य नरेंद्रदेव, पटना अधिवेशन, ज्ञानमंडल लि., वाराणसी 1973 (द्वितीय मुद्रण), पृ. 230-31.

10. युवा शक्ति का उन्नयन

नरेंद्रदेवजी नए भारत के निर्माण में युवकों की भूमिका को बहुत महत्व देते थे। इस बारे में उनकी समझ यह है कि जो समाज पुराने हैं या जिनमें विकास की गति मंद है वहां वृद्धों की प्रतिष्ठा होती है और वही समाज के नेता माने जाते हैं। ऐसे समाजों में युवकों को नेतृत्व के अयोग्य माना जाता है। इन समाजों की शिक्षा-प्रणाली में लोक-परंपरा का बड़ा महत्व होता है। वहां शिक्षा के नए प्रकारों के परीक्षण का प्रश्न ही नहीं उठता। वास्तव में ऐसे समाजों में नवीन ज्ञान और ज्ञान के आविष्कार में ही विश्वास नहीं होता। ज्ञान का स्रोत और साधन दैविक माना जाता है और माना जाता है कि वह परंपरागत है या धर्मशास्त्रों में उपनिबद्ध है। नरेंद्रदेवजी मानते थे कि विज्ञान और द्रुत परिवर्तन के इस युग में जब तक पुराने आदर्शों, धारणाओं, व्यवहारों और उत्पादन की विधि में क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं होता राष्ट्र का निर्माण नहीं किया जा सकता। उनका तर्कसम्मत विश्वास था कि यदि कोई समाज अपनी जीवन-पद्धति में बुनियादी परिवर्तन करने को तैयार नहीं है तो वह आधुनिक विज्ञान और तकनीकी का लाभ नहीं ले सकता। अतः वह इस बात पर बल देते थे कि नए युग के अनुरूप युवा वर्ग के अधिकारों को मान्यता दी जाए और समाज के महत्वपूर्ण कामों में उनकी भूमिका को महत्व दिया जाए। वह कहते हैं :

"जब समाज की ऐसी अवस्था हो जाती है कि उसको जीवित रहने के लिए अपनी पुरानी पद्धति को बदलने के लिए विवश होना पड़ता है तब उसके सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्य भी बदलने लगते हैं। नए समाज के प्रवर्तक प्रायः युवक ही होते हैं, कम से कम उनके सहयोग के बिना नूतन समाज की प्रतिष्ठा नहीं होती। इसका कारण यह है कि युवकों में साहस, शौर्य, तेज और त्याग की भावना प्रबल होती है। वह अभी संसार के कीचड़ में नहीं पड़ा है, इसलिए वह. . . आदर्श के लिए आत्मबलिदान करने को उद्यत हो जाता है। इसका एक कारण यह भी है कि उसकी अभी ऐसी कोई दृष्टि नहीं बनी है जो उसको समाज की नवीन आवश्यकताओं को समझने से रोके। . . .अतीत से नाता तोड़ने में उसे वह कठिनाई नहीं होती जो वृद्धों को होती है।"[1]

---

1. *राष्ट्रीयता और समाजवाद*, आचार्य नरेंद्रदेव, 'युवकों का समाज में स्थान और भारत', ज्ञानमंडल लि. वाराणसी, 1973 (द्वितीय मुद्रण) पृ. 313.

सन् 1942 का 'भारत छोड़ो' आंदोलन एक प्रकार से युवा-आंदोलन ही था। इसकी रूपरेखा का स्पष्ट संकेत गांधीजी ने देश को नहीं दिया था। अतः विद्रोह हुए और भूमिगत संगठन बने। यह सब युवाशक्ति का ही काम था। उत्तर प्रदेश में बलिया, महाराष्ट्र में सतारा और बंगाल में मिदनापुर में जनता के सशस्त्र विद्रोह द्वारा जो जनता सरकारें बनी थीं वह सब युवकों ने ही स्थापित की थीं। जैसे बलिया में श्री चित्तू पांडेय जनता सरकार के अध्यक्ष थे। पर वह केवल नाममात्र के थे। उनकी वास्तविक भूमिका कुछ भी न थी। पूरी भूमिका और रचना युवकों की थी। बंगभंग के बाद बंगाल का और पूरे देश का क्रांतिकारी आंदोलन हो अथवा गांधीजी के नेतृत्व में हुआ असहयोग एवं अवज्ञा आंदोलन सब का मुख्य आधार युवा एवं विद्यार्थी-वर्ग था। उनका अपना अनुभव लखनऊ तथा काशी विश्वविद्यालयों का यह था कि यदि विद्यार्थियों को सही नेतृत्व मिले तो युवाशक्ति सहज ही रचना और निर्माण में जुट जाती है। "युवा शक्ति का भंडार होता है तथा शूरता दिखाने के किसी अवसर को वह चूकना नहीं चाहता। यदि उसका समाज स्वतंत्र होने की चेष्टा कर रहा है तो वह उसमें लग जाता है और यदि उसका समाज सांप्रदायिक युद्ध में लगा है तो वह उसका अगुवा होना चाहता है।"[1]

शिक्षण–प्रशिक्षण की भूमिका

नरेंद्रदेवजी मार्क्सवादी सिद्धांत में विश्वास करते थे और मानवतावादी थे। वह राज्य और समाज की तांत्रिक प्रणाली को मानवीय सभ्यता की उच्चतर अवस्था मानकर उसके पुजारी हो गए थे। आधुनिक भारत के प्रायः सभी नेता, कम से कम राजनीतिक व्यवस्था के रूप में, जनतंत्र के ही समर्थक थे। केवल सर सैयद अहमद खां जैसे एक-दो व्यक्ति इसके अपवाद थे। भारत के नए संविधान का ढांचा शुद्ध जनतांत्रिक है और इस बिंदु पर पूरी संविधान सभा के लोग एकमत थे कि जनतंत्र ही आधुनिक युग में भारत के लिए एकमात्र राज्य व्यवस्था है। लेकिन जैसा कि नरेंद्रदेवजी ने बार बार कहा है, लोकतंत्र को लोकतांत्रिक संस्कृति की आवश्यकता है जबकि राजव्यवस्था के रूप में भी भारत में इसकी कोई परंपरा नहीं रही है। लोग जनतांत्रिक व्यवहार के अभ्यस्त नहीं हैं। अतः इस कोमल पौधे को बहुत सावधानीपूर्वक लंबे काल तक सींचना और पुष्ट करना होगा। "दुर्भाग्य से प्रजातंत्र का मूल यहां की मिट्टी में नहीं है। प्रजातंत्र एक जीवन-विधि है और एक ऐसे देश में जहां प्रजातंत्र के अभ्यास और उसकी परंपरा का प्रायः अभाव है, इसका वातावरण सतत प्रयत्नों द्वारा ही तैयार किया जा सकता है।"[2]

---

1. *राष्ट्रीयता और समाजवाद*, आचार्य नरेंद्रदेव, पटना अधिवेशन, ज्ञानमंडल लि., वाराणसी 1973 (द्वितीय मुद्रण), पृ. 316.
2. वही, 'पटना सम्मेलन' (अध्यक्षीय भाषण), सोशलिस्ट पार्टी सम्मेलन, मार्च 1949, पृ. 228.

उनकी दृष्टि में भारत में लोकतंत्र के रास्ते की दो अन्य बड़ी बाधाएं और हैं। यहां की प्राचीनजाति व्यवस्था और वर्णव्यवस्था। परंपरागत हिंदू सनातन धर्म का धार्मिक समर्थन इसे प्राप्त है और *मनुस्मृति* जैसे धर्मशास्त्रों द्वारा यह प्रतिपादित है। अस्पृश्यता भी इस व्यवस्था का अंग है। नए भारत को जाति-पांति और छुआछूत जैसी लोकव्यापी प्रवृत्तियों से मोर्चा लेना था। वह ले भी रहा था और सफलतापूर्वक। लेकिन लोकतंत्र को जिस सबसे अधिक दुर्दम्य शत्रु से लोहा लेना था वह नए प्रकार का संप्रदायवाद था जो धार्मिक राज्य, हिंदूराज की स्थापना के उन्माद में व्यक्त हो रहा था। यह संगठित आंदोलन था और भारत की हिंदू जनता इसके प्रभाव में आती जा रही थी। भारत-विभाजन ने और पाकिस्तान के निर्माण ने इस भयंकर राक्षस को खड़ा किया था। यदि पाकिस्तान में इस्लामी राज्य है तो भारत में हिंदू राज्य क्यों नहीं? विभाजन के बाद विशेषकर उत्तर भारत के हिंदू और मुसलमानों ने सभ्यता के सभी मानदंडों को तोड़कर सांप्रदायिक द्वेष और घृणा के वशीभूत जिस नृशंसता और जंगलीपन का परिचय दिया था उसने जनमानस को बुरी तरह विषाक्त कर दिया था। यदि गांधीजी ने अपना बलिदान कर इस आग को उस समय शांत न किया होता तो इस दैत्य द्वारा लोकतंत्र की भ्रूण हत्या निश्चित थी।" यह बिलकुल स्पष्ट है कि यदि हिंदू-राज्य का नारा कार्यान्वित किया गया तो लोकतंत्र मुर्झा जाएगा और हमारी सामाजिक व्यवस्था के वर्तमान दोष स्थायी बन जाएंगे।[1] वह प्रजातंत्र की स्थापना और दृढ़ता की चर्चा करते हुए कहते हैं :

"संप्रदायवाद इसका सबसे बड़ा शत्रु है और यदि प्रजातंत्रात्मक प्रणाली को सुदृढ़ बनाना है तो उसका (संप्रदायवाद का) उन्मूलन अनिवार्यतया होना चाहिए। संप्रदायवाद के परिणामस्वरूप हमारी राजनीतिक विचारधारा भी विकृत हो गई है और अधिकांश में हमारी परंपरागत चिंतन-प्रणाली ने, जिसका हमारी वर्तमान चिंतन-प्रणाली से कोई मेल नहीं है, अतिशय महत्व प्राप्त कर लिया है। यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि प्राचीन संस्कृति के पुनरुज्जीवन का आंदोलन आज उपस्थित समस्याओं को समझने एवं उसका हल निकालने में हमें कुछ भी मदद नहीं पहुंचा सकता।"[2]

गांधीजी के बलिदान ने सांप्रदायिकता की आंधी को कुछ समय के लिए रोक अवश्य दिया था पर देश का युवा वर्ग उससे प्रेरित हो रहा था। 1949 के सोशलिस्ट पार्टी के सम्मेलन के इसी भाषण में वह युवकों की सांप्रदायिक विष से रक्षा करने के उपायों पर विचार करते हुए कहते हैं, "शिक्षा के माध्यम से ही राष्ट्र के तरुणों में

---

1. *राष्ट्रीयता और समाजवाद* 'लोकतंत्र की स्थापना का मार्ग', पृ. 139.
2. वही, 'पटना सम्मेलन' पृ. 228-29.

प्रजातांत्रिक पद्धति की आदतें डाली जा सकती हैं। देश के उन तरुणों को जो ध्वंसात्मक सिद्धांतों के विषैले प्रभाव में हैं पुनर्शिक्षण द्वारा इसके दुष्परिणामों से बचाना है और इसके लिए हमारे शिक्षा केंद्रों में जनतांत्रिक विचारों एवं भावों का वातावरण तैयार करना है।"

नरेंद्रदेवजी चारों ओर पतन और गिरावट को देखकर बहुत चिंतित हो गए थे। यों तो वह शासन के विरोध पक्ष के नेता थे, पर उनकी चिंता देश के प्रधानमंत्री से कम न थी। भ्रष्टाचार के महानद को देखकर उनकी आत्मा चीत्कार कर उठी। पर उनकी आशा का दीप सर्वथा बुझ नहीं गया था। विशेषकर उन्हें युवकों पर बहुत भरोसा था। समाज की ऐतिहासिक विकासशीलता और परिस्थितियों की क्रांतिकारिता की सच्चाई से वह आश्वस्त थे और पतन की कोई तात्कालिक प्रक्रिया उन्हें दूर तक देखने में बाधा नहीं बन सकती थी। वह युग की क्रांतिकारी परिस्थितियों को समझते थे और बड़े से बड़े झटके को तात्कालिक मानकार सहन करते और आगे बढ़ जाते थे।

अतः उनके सामने यह प्रश्न था कि इस क्रांतिकारी परिस्थिति के गर्भ से क्रांति का जन्म कैसे हो। इसके लिए मानव-प्रयत्न और बुद्धिमत्ता आवश्यक है। इस प्रयत्न का एक बड़ा आयाम युवा वर्ग की शक्ति और क्षमता का विकास था। एक स्थान पर उन्होंने कहा है कि भारत के नेतृत्व करने वाले वर्ग में कुछ लोग ही ऐसे हैं जो युगानुरूप सामाजिक और सांस्कृतिक क्रांति के महत्व को स्वीकार करते हैं। अतः पुरानी पीढ़ी के प्रति वह शंकाशील थे। अतएव जीवन के हर क्षेत्र में युवकों की भागीदारी और उनके बौद्धिक स्तर को ऊंचा करने के प्रयत्न आवश्यक थे। इस शिक्षण-प्रशिक्षण का बड़ा साधन तो शिक्षा केंद्र ही थे। पर पूरा काम उनके द्वारा नहीं हो सकता था। अतः शिक्षा केंद्रों से असंबद्ध युवा वर्ग के शिक्षण-प्रशिक्षण पर उनका बल रहता था। समाजवादी कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण को बहुत आंवश्यक समझकर उसके लिए नियमित व्यवस्था करने की बात वह बराबर सोचते और करते रहे। वह विशेषकर शिक्षित युवावर्ग में आधुनिक समाज, अर्थनीति और राजनीति की समझ और सब प्रकार की समस्याओं के समक्ष वैज्ञानिक तर्कशील दृष्टि को आवश्यक समझते थे। 1942 के बाद जब 1945 में वह जेल से बाहर आए तो सबसे पहले उन्होंने विद्यार्थी अध्ययन-मंडल के लिए एक पाठ्यक्रम तैयार किया। यह पाठ्यक्रम पांच भागों में विभाजित है :

1. सामान्य समाजशास्त्र
2. समकालीन विश्व और भारत
3. अर्थव्यवस्था

4. राजनीतिशास्त्र
5. विद्यार्थी और युवजन आंदोलन

इस पाठ्यक्रम में सबसे मुख्य स्थान समाजशास्त्र को दिया गया है। इसी भाग में इतिहास की आर्थिक विवेचना, सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांत और विकास एवं क्रांति के विषयों को रखा गया है। समाजशास्त्र के बाद दूसरा स्थान राजनीतिशास्त्र का है। इस पाठ्यक्रम की एक विशेषता यह है कि यह दलीय राजनीति से अलग है। इसके अतिरिक्त यह वाद विशेष के आग्रह से भी मुक्त है। उनकी प्रेरणा से उत्तर प्रदेश के कई नगरों तथा विद्यालयों में युवकों के अनेक अध्ययन-केंद्र स्थापित हो गए थे।

लखनऊ के एक केंद्र में उन्होंने कई महीने प्रति सप्ताह समाजवादी सिद्धांत पर भाषण किए थे। उनकी ही प्रेरणा से लखनऊ में 1939 में समाजवादी कार्यकर्ताओं के सैद्धांतिक शिक्षण के लिए तीन सप्ताह का एक बड़ा शिविर आयोजित किया गया था जिसमें लगभग 80 कार्यकर्ताओं ने भाग लिया था। इसके पहले 1938 में श्री जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में एक बड़ा शिविर बिहार के समाजवादी कार्यकर्ताओं के लिए संघटित किया गया था। दोनों की प्रेरणा, योजना और कार्यान्वयन में उनका सक्रिय सहयोग था। इसके पहले वाराणसी में उन्होंने 1937 में एक प्रशिक्षण शिविर का आयोजन किया था।

दिसंबर 1955 में प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के गया सम्मेलन के पहले ही पार्टी के कार्यकर्ताओं के बौद्धिक स्तर को ऊंचा करने और विधानमंडलों में काम करने के रंग-ढंग पर विधायकों के प्रशिक्षण के निमित्त हर प्रदेश में एक प्रशिक्षण शिविर को आयोजित करने की योजना उन्होंने बनाई थी। उत्तर प्रदेश और बिहार के लिए सारनाथ में एक शिविर करने की तैयारी की जा रही थी। उसका एक पाठ्यक्रम बनकर तैयार हो गया था। प्रो. मुकुटबिहारी लाल ने उसे तैयार किया था। आचार्यजी ने स्वयं शिविर में एक सप्ताह रहकर नीचे के विषयों पर वार्ता करने का निर्णय किया था :

1. भारत के राष्ट्रीय आंदोलन का इतिहास
2. भारतीय समाजवादी आंदोलन की ऐतिहासिक रूपरेखा
3. कांग्रेस और कम्युनिस्ट पार्टियों के लक्ष्यों, नीतियों और कार्यक्रमों की समीक्षा
4. साम्यवादी चीन
5. संसार में नैतिक मूल्यों के विकास का इतिहास

इसके अतिरिक्त प्रत्येक जनपद में पार्टी कार्यकर्ताओं का एक सप्ताह का शिविर करने

की योजना थी जिसमें विशेषकर नए नीतिवक्तव्य की व्याख्या प्रस्तुत करनी थीं। वास्तव में जब 1954 में वह यूरोप की यात्रा से लौटे तो यह इरादा करके आए थे कि जीवन का शेष भाग युवकों के शिक्षण-प्रशिक्षण में लगाना है। लेकिन जब वह यूरोप में ही थे, उनके दल में फूट के बादल मंडराना शुरू हो गए थे। लौटते ही उन्हें उसका सामना करना पड़ा।

सार्वजनिक शिक्षा

वह वास्तव में व्यापक शिक्षा के पक्षधर थे और देश की उस विपन्न दशा में कम से कम आठवीं कक्षा तक की शिक्षा को प्रत्येक नागरिक तथा बच्चे तक निःशुल्क पहुंचाने का प्रतिपादन उन्होंने किया था। वयस्क नागरिकों की शिक्षा को उन्होंने जनशिक्षा का नाम दिया था। जब तक जनता में सामाज़िक और राजनीतिक चेतना उत्पन्न नहीं होती तब तक लोकतांत्रिक पद्धति की सफलता संभव नहीं है। अतएव जनता की संस्कृति एवं शिक्षा संबंधी कमियों को सर्वप्रथम दूर करना होगा और सभी श्रेणियों में साक्षरता का व्यापक प्रसार करना होगा। . . ज़ब तक जन-संस्कृति का निर्माण नहीं हो जाता तब तक ऐसे स्वतंत्र समाज की स्थापना भी नहीं हो सकती जिसमें प्रत्येक नागरिक सार्वजनिक कल्याण के लिए परस्पर सहयोग कर सके। उनका साक्षरता का अभियान वास्तव में सामाजिक शिक्षा की प्रथम सीढ़ी था। राजनीतिक और सामाजिक चेतना उत्पन्न करना उसका लक्ष्य था। तर्कशील विवेक बुद्धि को प्रोत्साहित करना और राजनीतिक एवं अन्य सामाजिक प्रश्नों पर अपनी सोच के आधार पर निर्णय करने की क्षमता जनता में पैदा करना वह आवश्यक समझते थे, न कि किसी विशिष्ट विचार के प्रति अंधनिष्ठा पैदा करना। इस जनशिक्षा में नागरिकता की शिक्षा का विशेष स्थान था जिसमें न केवल राष्ट्रीय बल्कि अंतर्राष्ट्रीय दृष्टि बने। उन्होंने एक ऐसी जनशिक्षा योजना का प्रतिपादन किया जिससे जीवन के प्रति प्रगतिशील और असांप्रदायिक दृष्टिकोण बने, व्यक्ति में लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रति निष्ठा पैदा हो और वह अपने व्यवहार को नवीन संस्थाओं के अनुकूल बनाने की क्षमता रखता हो। व्यापक जनशिक्षा की पूर्ति के लिए नरेंद्रदेवजी ने प्रतिपादित किया कि श्रमिकों, किसानों तथा दूसरे उत्पादकों के लिए उनके कार्यस्थलों तथा बस्तियों में प्रौढ़ शिक्षा की इकाइयां स्थापित की जाएं और इन केंद्रों में साक्षरता के साथ साथ व्यावसायिक शिक्षा और मनोरंजन एवं खेलकूद के कार्यक्रमों द्वारा, सांस्कृतिक शिक्षा की व्यवस्था हो। उनकी जनशिक्षा-योजना में समाज के पिछड़े वर्गों, स्त्रियों और जनजातियों के लिए विशेष कार्यक्रमों और वित्तीय सुविधाओं को स्थान दिया गया था। पर वह इस बारे में बराबर सावधान थे कि राज्य का वित्तीय आधार दुर्बल है और कुशल

मानव-साधन भी सीमित है। अतः उन्होंने जनशिक्षा को अधिक से अधिक जन-आधारित बनाने का सुझाव रखा।

अतः उन्होंने स्नातक स्तर और स्नातकोत्तर स्तर की शिक्षा संस्थाओं को केंद्रीय महत्व प्रदान किया और कभी कभी केंद्रीय सरकार की तत्संबंधी उपेक्षा की बड़ी आलोचना की। उनका बार बार यह आग्रह था कि हमारे विश्वविद्यालयों को न केवल विविध क्षेत्रों के लिए विशेषज्ञ देने हैं, बल्कि उनको सच्चे अर्थ में राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय विचार केंद्र बनना है।

11. मानवतावादी संस्कृति

आचार्य नरेंद्रदेव मानवतावादी हैं। वह मानववादी भी हैं। मानव से श्रेष्ठ कुछ नहीं है। मानव का निर्माण समाज और उसकी संस्कृति करती है और ऐतिहासिक क्रम में संस्कृति का सृजन मानव करता है। संस्कृति का अधिकांश उसे परंपरा से मिलता है और सामाजिक विकास के क्रम में वह उसे अधिकाधिक परिष्कृत एवं विकसित करता है।

"संस्कृति मनुष्य की सामाजिकता की अभिव्यक्ति है और सांस्कृतिक विरासत मानव की ऐतिहासिक यात्रा में सामूहिक प्रयास की उपलब्धि है। सांस्कृतिक सिद्धांत इतिहासजनित हैं। वह मानव के अनुभव तथा प्रेरणाओं एवं आवश्यकताओं के मूर्त रूप हैं। सांस्कृतिक संस्थान भौतिक पर्यावरण में इतिहासजनित परिस्थितियों से उत्पन्न जीवन शैली है।"[1]

धर्म से संस्कृति का संप्रत्य और रूप अलग है। नरेंद्रदेवजी इसे दूसरी तरह कहते हैं। वह कहते हैं, "प्राचीन काल में जब धर्म-मजहब समस्त जीवन को व्याप्त और प्रभावित करता था तब संस्कृति को बनाने में उसका भी हाथ था। किंतु आज मजहब का प्रभाव बहुत कम हो गया है।"[2] आचार्यजी धर्म-संस्थान को आधुनिक युग की आवश्यकताओं और मूल्यों के प्रतिकूल पाते हैं। पुराने धर्मों की सामाजिकता और नैतिकता औद्योगिक युग की आवश्यकताओं से बेमेल है। उदाहरण के लिए, हिंदू सनातन धर्म की छुआछूत, अस्पृश्य दलित लोग, सामाजिक ऊंच-नीच, नारी जाति की हीनता आदि। राष्ट्रीयता, लोकतंत्र, मानव मात्र की गरिमा नए युग के मूल्य हैं। नरेंद्रदेवजी धर्म के संप्रत्यय को संस्कृति के संप्रत्यय से अलग करते हैं, क्योंकि धर्म राष्ट्रीयता, लोकतंत्र और मानव की समता के अनुकूल नहीं है, और दैविक होने के कारण उसमें मानवीय हस्तक्षेप निषिद्ध है। वह कहते हैं, "आज के युग की आवश्यकताओं

---

1. *पालिसी स्टेटमेंट – प्रजा सोशलिस्ट पार्टी*, (1955), आचार्य नरेंद्रदेव, समाजवादी संस्कृति, प्रजा सोशलिस्ट पार्टी, नई दिल्ली, 1959, पृ. 43.
2. *साहित्य, शिक्षा एवं संस्कृति*, आचार्य नरेंद्रदेव, (संपादक - रमेशचंद्र और कृष्णनाथ), 'संस्कृति', प्रभात प्रकाशन, दिल्ली 1988, पृ. 134.

और आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए जो जीवन के मूल्य और पुरुषार्थ के उद्देश्य तथा लक्ष्य निर्धारित होते हैं, उन्हीं के अनुकूल चित्त को सुभावित करना चाहिए। एशिया में आज सब देश राष्ट्रीयता और जनतंत्र की भावना से प्रभावित हो रहे हैं। यही शक्तियां इन देशों के आचार-विचार को निश्चित करती हैं और आज इनका कार्य सर्वत्र देखा जा सकता है। विज्ञान ने नई शक्तियों को उन्मुक्त किया है। उन्होंने मानव को एक नया स्वप्न दिया है और उसके सम्मुख नए प्रतीक और लक्ष्य रखे हैं। अंतर्राष्ट्रीय विज्ञान के आलोक में समाज का कलेवर बदल रहा है, अंतर्राष्ट्रीयता के नए साधन और उपकरण प्रस्तुत हो रहे हैं। एक भावना सकल विश्व को व्याप्त करना चाहती है, और एक नए सामंजस्य की ओर संसार बढ़ रहा है।"[1]

मनुष्य के आचारों और विचारों में समय समय पर परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। सामाजिक विकास की प्रत्येक अवस्था के आचार-विचार अपने हुआ करते हैं। हिंदू आचार-विचार भी इस नियम के अपवाद नहीं हैं। एक आचार जो एक काल में सर्वमान्य था दूसरे काल में वही आचार निंद्य और वर्ज्य ठहराया गया है। विचार शैलियां भी बदलती रही हैं, उपासनाओं में विभेद और बहुलता होती रही है तथा अनेक दर्शनों की सृष्टि भी हुई है। देश-काल के भेद से आचार बदलते रहे हैं। समाज को गति देने वाला मूल तत्व यह है कि आर्थिक संगठन के बदलने से सामाजिक संबंध बदलते हैं और इसका परिणाम यह होता है कि नवीन उद्देश्य और आकांक्षाओं का जन्म होता है। इनकी पूर्ति के लिए जीवन के नए मूल्यों को स्वीकार करना पड़ता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्यों के विश्वास में परिवर्तन होता रहता है और इस परिवर्तन का संबंध सामाजिक विकास से है।. . . एक समय था जब सब प्रश्नों का उत्तर धर्म से मिलता था, किंतु आज विज्ञान उसका साझीदार हो गया है। मनुष्य धर्म और विज्ञान में समझौता करना चाहता है, किंतु यह हो नहीं पाता और न हो सकता है।"[2]

आचार्यजी संस्कृति को राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय एकता का आधार मानते हैं। अनेक धर्म ऐसे हैं जो राजव्यवस्था को धर्मतंत्र के अधीन करते हैं। वह दूसरे धर्मों के मतावलंबियों को समान नागरिक अधिकार प्रदान नहीं करते। धार्मिक आधार पर ऐसा भेदभाव राष्ट्रीय एकता में बाधक है। सेकुलरवाद ही युगधर्म है, क्योंकि वह सांसारिक समस्याओं का उपाय बौद्धिक और वैज्ञानिक समझ के आधार पर करने का समर्थक है। जब तक विज्ञान धर्म के नियंत्रण से मुक्त नहीं हुआ उसका विकास अवरुद्ध

1. *साहित्य, शिक्षा एवं संस्कृति,* आचार्य नरेंद्रदेव, (संपादक - रमेशचंद्र और कृष्णनाथ), 'संस्कृति', प्रभात प्रकाशन, दिल्ली 1988, पृ. 134.
2. *हिंदू धर्म की समीक्षा,* पंडित लक्ष्मण शास्त्री जोशी, भूमिका (आचार्य नरेंद्रदेव), हेमचंद मोदी, मुंबई 1948.

रहा। सेकुलरवाद इसीलिए व्यापक हुआ है क्योंकि सांसारिक जीवन के प्रायः सभी क्षेत्र धर्म के नियंत्रण से मुक्त होकर विज्ञान के क्षेत्र में आते गए। केवल अध्यात्म और परलोक का क्षेत्र धर्म के अंतर्गत रह गया है। लोकतंत्र और राष्ट्रीयता युगधर्म बन गए हैं। राष्ट्रवाद भी धीरे धीरे अंतर्राष्ट्रवाद के साथ सामंजस्य और सहयोग की ओर अग्रसर है। विज्ञान और सेकुलरवाद के संदर्भ में और भारतीय संस्कृति की अस्मिता के प्रश्न पर विचार करते हुए अपने एक भाषण में वह संस्कृति के राष्ट्रीय स्वरूप के अतिरिक्त अंतर्राष्ट्रीय रूप पर भी विचार करते हैं। वह कहते हैं :

"कोई भी विचारक समाज के निरंतर विकास की उपेक्षा नहीं कर सकता। मानव समाज आदिम युग से बराबर प्रगति कर रहा है। इस प्रगति में बराबर नए नए आध्यात्मिक मूल्यों की सृष्टि हुई है। पूर्व में विकास की अपनी परंपरा रही है, परंतु पश्चिम ने जो कुछ किया है उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। कोई सजग चिंतक पश्चिम की देन को अस्वीकार नहीं कर सकता। विज्ञान के क्षेत्र में, भाषण, लेखन और संगठन के क्षेत्र में स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए पश्चिम के लोगों ने जो संघर्ष किया है वह मानवता के इतिहास में अभूतपूर्व है। उससे मानव चेतना का जैसा विस्तार हुआ है, जिन नए मूल्यों की सृष्टि हुई है, भारतीय साहित्यकार की प्रतिभा उससे प्रमोदित हुए बिना नहीं रह सकती। संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणापत्र को देखने से पता लगेगा कि मानव समाज आरंभिक युगों से कितना आगे बढ़ा है। उसमें अखिल विश्व के मानव समाज के मूलभूत अधिकारों की रक्षा का जैसा आश्वासन दिया है वह उसके पूर्व संभव न था। उसमें पहली बार मानव समाज के संघटन और प्रगति के लिए अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण की स्थापना हुई है। सारे संसार का मानव समाज एक ही है। विश्व के राष्ट्रों द्वारा इसकी घोषणा से मानवता के एक नए युग का आरंभ हो गया है। अब मनुष्य इसके पीछे नहीं लौट सकता।"[1]

संस्कृति का वैयक्तिक और सामाजिक आधार

नरेंद्रदेवजी संस्कृति को विकासमान एवं परिवर्तनशील मानते हैं और उसका आधार व्यक्ति और समाज दोनों हैं। एक सिरे पर व्यक्ति के चित्त में उसे प्रतिष्ठित देखते हैं और दूसरे सिरे पर सामाजिक चित्त में उसका निवास पाते हैं। वह भौगोलिकता से भी उसे संबद्ध करते हैं और उसे इतिहास, स्थानीय समुदाय, धर्म, दर्शन और भाषा से भी संबद्ध पाते हैं। पर चूंकि यह सभी परिवर्तनशील हैं, अतः संस्कृति के साथ इनका संबंध भी गतिशील और परिवर्तनशील है। संस्कृति की व्याख्या करते हुए वह कहते हैं :

---

1. *साहित्य, शिक्षा एवं संस्कृति*, आचार्य नरेंद्रदेव (संपादक - रमेशचंद्र तिवारी एवं कृष्णनाथ), 'भारतीय समाज और संस्कृति,' प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 1988, पृ. 130-31.

"संस्कृति चित्त-भूमि की खेती है। चूंकि कर्म में मन या चित्त की प्रधानता है अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि जिसका चित्त सुभावित है उसकी वाणी और उसकी शरीर-चेष्टा भी सुसंस्कृत होगी। जिस प्रकार की हमारी दृष्टि होगी उसी प्रकार का हमारा क्रियाकलाप होगा। विश्व और मानव के प्रति एक दृष्टि विशेष की आवश्यकता रहती है। विकास क्रम से यह दृष्टि व्यापक होती जाती है और जब विश्व की एकता के साधन एकत्र हो जाते हैं तब यह एकता कार्य में परिणत होने के लिए प्रयत्नशील हो जाती है।. . . व्यक्तियों के चित्त के साथ साथ एक लोकचित्त भी बनता रहता है। मनुष्य सामाजिक है क्योंकि समाज में रहने से ही उसके गुणों का विकास होता है। अतः समाज में कई बातों में समानता उत्पन्न होती है। समूहों का विस्तार होता रहता है और एक समय आता है जब राष्ट्रीयता की प्रबल भावना से प्रेरित हो एक देश की भावना का अतिक्रमण करती है और एक विश्व की भावना की ओर अग्रसर होती है। जिन बातों में समानता उत्पन्न होती है उन्हीं के आधार पर लोकचित्त भी बनता है।"[1]

भारतीय संस्कृति के रक्षणीय तत्व

आचार्यजी संस्कृति के कुछ मूल्यों को शाश्वत और रक्षणीय मानते हैं। वह भारतीय संस्कृति की उन विशेषताओं को पहचानना चाहते हैं जो भारत का ही नहीं संसार का भी मार्गदर्शन कर सकते हैं। वह कहते हैं :

"हमारी संस्कृति का सबसे बड़ा तत्व विभिन्न जीवन-प्रणालियों में एकता और जीवन के हर क्षेत्र में समन्वय स्थापित करना है। विशाल भारतीय संस्कृति के अंतर्गत अनेक छोटी छोटी संस्कृतियां हैं, किंतु उनमें एकतानता है। इसी प्रकार धर्म के भी अनेक रूप हैं। सनातन, आर्य और बुद्ध। इनमें उपासना का भेद है, उत्सव, पर्व और साधना का भेद है, किंतु भेद के होते हुए भी कुछ मुख्य बातों में अद्‌भुत एकतानता और समरसता मिलती है। वैविध्य और वैभिन्य में एकता का जो सूत्र है वह हमें सदा से अनुप्राणित करता रहा है।...हमारी संस्कृति की दूसरी विशेषता नैतिक व्यवस्था की स्थापना है।...कर्मफल में विश्वास प्रकट कर मानवी कर्म को सहज ही महान लक्ष्य की ओर प्रेरित करने के उद्देश्य से भारतीय संस्कृति में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की प्रतिष्ठा हुई है।...मोक्ष से तात्पर्य मनुष्य की आध्यात्मिक और बौद्धिक मुक्ति से है। योग के बिना कोई मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता। योग से तात्पर्य मन की समाहित अवस्था और प्रवृत्तियों पर नियंत्रण है।...कर्मफल की वासना न रखते हुए और शुभ कर्म करते हुए मोक्ष की ओर निरंतर बढ़ते जाना, यही

---

1. *साहित्य, शिक्षा एवं संस्कृति*, 'संस्कृति', आचार्य नरेंद्रदेव, पृ. 133.

भारतीय संस्कृति का मूलाधार है।"[1]

वह सामाजिक मानवतावाद को मानते हैं। इसी के आधार पर भावी समाज की, समाजवादी समाज की संस्कृति का विकास होगा। वह गंगा-यमुनी मध्यकालीन संस्कृति को इसलिए अस्वीकार करते हैं कि उसमें अनेक तत्व नैतिकता तथा परंपरा के नाम पर वस्तुतः सामंती व्यवस्था के पोषक हैं और मानव की सामाजिक आर्थिक समता के प्रतिकूल हैं। वह कहते हैं :

"समाजवाद मिश्रित संस्कृति के नाम पर श्रेणीबद्ध समाज के मानकों और परंपराओं को बनाए रखने का निश्चय ही विरोधी है। समाजवाद जनसाधारण की सांस्कृतिक आवश्यकताओं तथा प्रेरणाओं की सामाजिक मान्यता के लिए और शोषण, आधिपत्य, वर्गविद्वेष तथा दंभ से मुक्त वर्गहीन समाज के अनुकूल वास्तविक मानव संस्कृति के प्रयास के लिए वचनबद्ध है। ऐसी संस्कृति भारतीय संस्कृति के मानवतावादी तत्वों और पाश्चात्य संस्कृति के जनतांत्रिक-समाजवादी तत्वों का रचनात्मक संश्लेषण होगी।"[2]

समाजवादी आचारशास्त्र

आचार्यजी समाजवादी समाज के लिए नैतिक आचरण और नैतिक व्यक्तित्व को आवश्यक मानते हैं। लेकिन वह आचार संहिता को दैविक और सनातन न मानकर उसे ऐतिहासिक और परिवर्तनशील मानते हैं। वह परंपरागत पुरानी नैतिकता के सब नियमों को स्वीकार नहीं करते क्योंकि उनके अनेक नियम सामंती और पूंजीवादी हितों के संवर्धन एवं रक्षण की भावना का प्रतिनिधित्व करते हैं, और जनसाधारण के शोषण, विषमता और हीनता को प्रश्रय देते हैं। इसे वह वर्गीय समाज की नैतिकता या आचार संहिता मानते हैं। वह कहते हैं :

"वर्गीय समाज के नैतिक नियम संपूर्ण समाज की आकांक्षाओं को समाविष्ट करने का दावा नहीं कर सकते। निस्संदेह इसमें कुछ ऐसे मानदंडों का समावेश है जिनका स्थायी महत्व है और जिनको सभी वर्गों की सामान्य स्वीकृति प्राप्त है, किंतु बहुत से नैतिक नियमों में प्रभुत्वशाली वर्ग के सामाजिक स्वार्थ परिलक्षित होते हैं। इनका उद्देश्य उन संस्थाओं और जीवन-विधियों को मान्यता प्रदान करना होता है जिनके सहारे प्रभुत्वशाली वर्ग का प्रभुत्व स्थापित है। यह नियम आधिपत्य और असमानता के आधार स्तंभ हैं। वर्गीय समाज में (पीड़ित वर्ग द्वारा इन नियमों को

---

1. *साहित्य, शिक्षा एवं संस्कृति*, आचार्य नरेंद्रदेव, भारतीय समाज एवं संस्कृति, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 1988, पृ. 139.
2. *पालिसी स्टेटमेंट - प्रजा सोशलिस्ट पार्टी* (1955, अंग्रेजी), आचार्य नरेंद्रदेव, 'समाजवादी संस्कृति', प्रजा सोशलिस्ट पार्टी, नई दिल्ली, 1959, पृ. 44.

नकारने पर) नैतिक आदर्शों का संघर्ष उपस्थित हो जाता है, और सामाजिक विकास के क्रम में एक ऐसी अवस्था आती है जब आचार संहिता का नवनिर्धारण आवश्यक हो जाता है। ऐसी स्थिति में असामयिक नैतिक मानदंडों के कारण समाज में प्रचलित नैतिक आदर्शों तथा लोगों के व्यवहार के बीच विरोध उत्पन्न हो जाता है और समाज को उसके दुष्परिणामों का सामना करना पड़ता है।"[1]

इस तरह आचार्यजी आचारसंहिता और सदाचार को समाज के लिए आवश्यक मानते हैं और नई आचार संहिता की मांग करते हैं। नैतिक आचरण के लिए व्यक्ति और समाज दोनों को सदा प्रयत्नपूर्वक प्रयास करना होगा। यह कल्पना की जा सकती है कि मानव अपनी सहज वृत्ति से शीलवान हो जाए, किंतु अभी वह दूर की कल्पना है। समाज के प्रसंग में ही नैतिक आचरण की संगति है। अतः शीलवान व्यक्तित्व का निर्माण करने हेतु प्रयास मात्र मनोवैज्ञानिक न होकर मुख्यतया सामाजिक होने चाहिए। "स्वतंत्रता, समता और लोकहित समाजवादी नैतिकता के मौलिक सिद्धांत हैं। पुरातनकाल के ऋषियों, आचार्यों और पैगंबरों की, मध्य युग के संतों एवं सूफियों की और आधुनिक युग के प्रायः सभी पुनरुद्धारवादियों एवं क्रांतिकारियों की मान्यता इस सिद्धांत को प्राप्त है। इनके आधार पर भारत में एक प्रकार का आध्यात्मिक मानवतावाद विकासोन्मुख हुआ था, किंतु सामंती अर्थव्यवस्था द्वारा आरोपित सामाजिक ऊंच-नीच के कारण यह विकास अवरुद्ध हो गया। आज हमारी आर्थिक परिस्थितियां हमारी आर्थिक व्यवस्था में समाजवादी प्रकार के क्रांतिकारी परिवर्तन की मांग कर रही हैं, और ऐसा करना संभव भी हो गया है। दूसरी ओर, विभिन्न मतावलंबियों से बने हमारे समाज में हमारी सामाजिक परिस्थितियां हमारे नैतिक रूपों और धार्मिक रूपों में भेद की मांग कर रही हैं। ऐसी अवस्था में हमारा कर्तव्य हो जाता है कि आध्यात्मिक मानवतावाद के साथ जनतांत्रिक और समाजवादी मानदंडों के रचनात्मक समन्वय द्वारा समाजवादी नैतिकता की रचना करें, जो धार्मिक और ऊंच-नीच वाले समाज के रूपों से भिन्न हो। . . समाजवादी दृष्टि में नैतिक व्यक्तित्व वह है जिसमें सामाजिक हित को निजी हित समझने की क्षमता है। समाजहित में योग देने वाला स्वतंत्र कर्म नैतिक कर्म है।"[2]

आचार्य नरेंद्रदेव के व्यक्तित्व की विशिष्टता यह है कि उन्होंने अपने मानवतावादी सिद्धांतों और उसकी नैतिकता को अपने जीवन में चरितार्थ भी किया। उन्होंने वैसा नैतिक जीवन जीने का हर संभव प्रयत्न किया।

---

1. *पालिसी स्टेटमेंट - प्रजा सोशलिस्ट पार्टी*, आचार्य नरेंद्रदेव, पृ. 39-40.
2. वही, पृ. 42.

12. विदेश यात्रा

नरेंद्रदेवजी जैसे इतिहासविद्, शिक्षाविद् और समाजशास्त्र के अध्येयता को अपनी ज़वानी में ही विभिन्न देशों का भ्रमण करना चाहिए था। पर 1950 तक वह एशिया के भी किसी देश में नहीं गए। 1911 में वह पढ़ाई के लिए इंग्लैंड जाना चाहते थे। उस समय अपनी माता से अनुमति न मिलने के कारण वह ऐसा न कर सके। 1950 में वह पहली बार स्याम और बर्मा गए। वहां वह एक स्वैच्छिक संस्था 'संयुक्त राष्ट्रों का विश्वसंघ' के एक सम्मेलन में भाग लेने गए थे। वहां से लौटते समय वह बर्मा में रुके। इस यात्रा में उन्होंने जो देखा और समझा उसका संक्षिप्त विवरण भी उन्होंने तैयार किया था। इस विवरण का सार-संक्षेप निम्नांकित है :

स्याम

स्याम पर प्राचीन भारतीय संस्कृति का गहरा प्रभाव है। इस देश की भाषा में पाली और संस्कृत के शब्दों की भरमार है। नए शब्द इन्हीं दो भाषाओं से लिए जाते हैं। यहां की लिपि भी भारत से ही ली गई है। राज्य का चिह्न गरुड़ है। इसके अतिरिक्त *रामायण* का बहुत प्रचार है। स्याम की चित्रकला और मूर्तिकला पर भी भारतीय कला की गहरी छाप है। यहां के अधिकांश लोग हीनयान बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं। इस देश की पुरानी राजधानी का नाम अयोध्या था और पुराने राजाओं के नाम में बहुधा राम शब्द जुड़ा रहता है। यहां राजतिलक अब भी वैदिक रीति से होता है। राजा के एक मंदिर में विष्णु, शिव तथा गणेश की मूर्तियां विद्यमान हैं। इस देश में विज्ञानेतर विषयों के विद्यार्थियों के लिए दसवीं कक्षा तक संस्कृत अनिवार्य विषय है। बी.ए. के पाठ्यक्रम में भारतीय इतिहास भी पढ़ाया जाता है। यह देश राजनीतिक रूप से स्वतंत्र है, लेकिन आर्थिक रूप से स्वतंत्र नहीं है। यहां बड़े उद्योग बहुत कम हैं और जो हैं वह भी विदेशियों द्वारा संचालित हैं। यहां का अधिकांश व्यापार चीनियों के हाथ में है। खेती पुराने ढंग की है और वही मुख्य धंधा है। देश की 70 प्रतिशत भूमि में जंगल है और केवल दस-बारह प्रतिशत पर खेती की जाती है। इस देश का राजनीतिक जीवन उन्नत नहीं है। यहां वैधानिक नृपतंत्र है। पर यहां का जनतंत्र ढकोसला ही है। यहां के सभी दल एक एक नेता के आधार

पर बने हुए हैं। श्रमिक संगठन स्वतंत्र नहीं है और किसानों का कोई संगठन नहीं है। स्याम की राजधानी बैंकाक है। इस नगर में लगभग आठ हजार भारतीय मूल के लोग हैं। यह लोग अधिकांशतया दूध के व्यापार में हैं, और कुछ कपड़े के व्यापार में। इनमें शिक्षा की कमी है।

बर्मा

स्याम से लौटते हुए आचार्यजी बर्मा में पांच दिन रुके। भारत की तरह बर्मा भी ब्रिटेन के अधीन था। भारत के साथ ही वह भी स्वतंत्र हुआ था। 1935 तक वहां का शासन भारत के वायसराय के अधीन था। रंगून वहां की राजधानी है। आचार्यजी बर्मा में सरकारी मेहमान थे। वहां वह सरकार के मंत्रियों, सोशलिस्ट पार्टी के नेताओं और बर्मावासी भारतीयों के संपर्क में आए। उस समय वहां राजनीतिक संकट की स्थिति थी। वहां भारत के लोग बड़ी संख्या में थे। उनकी स्थिति भी डावांडोल थी। आचार्यजी का विवरण इन्हीं दो समस्याओं से संबंधित है। उनका विवरण संक्षेप में नीचे प्रस्तुत है :

गत महायुद्ध तक रंगून एक भारतीय नगर जैसा ही था। यहां के साठ प्रतिशत निवासी भारतीय थे। स्वतंत्र बर्मा में उनके विशेष अधिकारों को सुरक्षित नहीं रखा जा सकता। यदि वह बर्मा में रहना चाहते हैं तो उन्हें वहां का नागरिक बन जाना चाहिए और विशेष अधिकारों को बनाए रखने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। मेरा विश्वास है कि यदि भारतीयों ने अपने को वहां के अनुरूप ढालने की कोशिश की तो अब भी वे देश की अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर सकते हैं। बर्मा के संविधान में भारतीयों के प्रति भेद की नीति नहीं बरती गई है। भारतीय मूल के अनेक नेताओं का वहां के सरकारी सदस्यों से मैत्रीपूर्ण संबंध हैं।

"बर्मा के भारतीयों में चोटियार जाति के लोग भी हैं। ये लोग मुख्यतया महाजन हैं। ये जमींदार भी हो गए हैं। बर्मा के लोगों में ये अप्रिय हो गए हैं। पर इन लोगों ने बर्मा के जमींदारों के साथ गठबंधन कर रखा है। बर्मा में जमींदारी व्यवस्था का उन्मूलन कर दिया गया है। क्षतिपूर्ति के लिए मालगुजारी के बारह गुना का प्रावधान है। पर भारत के चोटियार पच्चीस गुना की मांग कर रहे हैं। इन लोगों ने अपनी मांग के पक्ष में कांग्रेस के अध्यक्ष का समर्थन प्राप्त कर लिया है और वह एक प्रतिनिधिमंडल उनके समर्थन में बर्मा भेजने को तैयार हो गए हैं। परंतु बर्मी भारतीय कांग्रेस ने भारत से ऐसा प्रतिनिधिमंडल भेजने का विरोध किया है। उसने यह विरोध कर एक सही काम किया है। इस प्रकार के किसी प्रतिनिधिमंडल को यहां की सरकार अनुचित दबाव समझेगी। कोई कारण नहीं है कि चोटियारों को विशेष अधिकार प्रदान किए जाएं। मेरा यह मत है कि भारत के नेता यहां बसे

भारतीयों को यह सद्परामर्श दें कि वे एक निर्धारित अवधि में बर्मा के नागरिक बन जाएं।

"बर्मा की सरकार ने भूमि का राष्ट्रीयकरण कर दिया है। खेती के लिए भूमि किसानों में वितरित की जा रही है। कृषि में सहकारिता को अनिवार्य कर दिया गया है। प्रधानमंत्री का कहना है कि भूमि के राष्ट्रीयकरण ने किसानों को सरकार के पक्ष में कर दिया है। बर्मा की सरकार के समक्ष इस समय कठिन समस्याएं उपस्थित हैं। देश की आर्थिक स्थिति बिलकुल तहस-नहस हो गई है। अपने खनिजों को निकालने और उनका उपयोग करने में भी वह असमर्थ हैं। यहां उद्योगों के सकल संचालन के लिए न योग्य वैज्ञानिक और इंजीनियर हैं और न कुशल प्रबंधक। उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के लिए सरकार वचनबद्ध हो चुकी है। संसद में यद्यपि सोशलिस्टों का बहुमत है, परंतु प्रधानमंत्री समाजवादी पार्टी का नहीं है। कम्युनिस्टों की एक पार्टी ने सरकार के विरुद्ध शसस्त्र विद्रोह कर रखा है और करेन जनजाति के लोग अपना स्वतंत्र देश बनाने के लिए सशस्त्र विद्रोह कर रहे हैं। देश के प्रायः तिहाई भाग पर विद्रोहियों का अधिकार है।"

चीन

सन् 1952 में आचार्य नरेंद्रदेव ने चीन की यात्रा की। वहां वह छह सप्ताह रहे। वह भारत सरकार के सद्भावना मंडल के सदस्य बनकर वहां गए थे। विजयलक्ष्मी पंडित इस मंडल की अध्यक्ष थीं। वहां की सरकार ने उन्हें अनेक स्थानों और अनेक संस्थाओं में घुमाया। आचार्यजी ने अपने ढंग से वहां की राजनीतिक, आर्थिक और शैक्षिक कार्यकलापों की जानकारी प्राप्त की। पर वहां स्वतंत्रता का वातावरण नहीं था और सरकारी कर्मचारी तथा साधारण लोग आपस में भी खुलकर बातें नहीं कर सकते थे।

आचार्यजी ने कम्युनिस्ट शासन की आर्थिक, राजनीतिक और शैक्षिक नीतियों के व्यावहारिक रूप को देखने-समझने का प्रयत्न किया। उन्होंने विशेषकर वहां की नई भूमि-व्यवस्था और किसानों की दशा का अवलोकन किया। उन्होंने देखा कि कम्युनिस्ट चीन भी धीरे धीरे सोवियत रूस के मार्ग की ओर बढ़ रहा है और भूमि के राष्ट्रीयकरण तथा पुनर्वितरण के बाद सामूहिक खेती की ओर बढ़ना चाहता है। उन्होंने यह भी देखा कि वहां लोकतांत्रिक स्वतंत्रता का नितांत अभाव है और संचार साधनों पर शासन का कठोर नियंत्रण है। उनकी जानकारी के अनुसार किसानों का, विशेषकर निम्नमध्यम तथा खेतिहर श्रमिकों का, समर्थन सरकार को प्राप्त है। सरकार की नीति उस समय यह थी कि बहुसंख्यक किसानों की सहमति प्राप्त कर पहले सहकारी कृषि की ओर और बाद में सामूहिक सहकारी कृषि की ओर बढ़ा जाए।

चीन से लौटने के बाद वहां के भूमि सुधारों पर उन्होंने नेशनल ज्योग्राफिकल सोसाइटी आफ इंडिया के आमंत्रण पर एक भाषण भी दिया था। उसमें भूमि-सुधारों का कुछ विस्तार से वर्णन है। चीन में वह पेचिंग विश्वविद्यालय गए। वहां उनका भाषण भी हुआ। एक विशिष्ट प्रकार के विद्यालय में भी वह गए। यह विद्यालय कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण के लिए था। यहां के स्नातक कम्युनिस्ट पार्टी के वेतनपोषित कार्यकर्ता बनकर काम करते थे।

आचार्यजी ने चीन से लौटकर वहां के बारे में शायद ही कभी खुलकर चर्चा की हो। तो भी, चीन की कम्युनिस्ट सरकार ने किसानों के लिए और भूमि की पुनर्व्यवस्था के संबंध में जो क्रांतिकारी कदम उठाए थे उसके वह प्रशंसक थे।

यूरोप

दमे के उपचार के लिए वह 1954 में पहले इंग्लैंड गए और फिर वहां से आस्ट्रिया गए। आस्ट्रिया में वियना के एक प्रसिद्ध डाक्टर से इलाज कराया। आस्ट्रिया में उस समय समाजवादी सरकार थी। वियना नगर की नगरपालिका में भी समाजवादी पार्टी का बहुमत था। वहां का नगर प्रमुख समाजवादी था। यहां उन्होंने नगर पालिका के कामकाज और व्यवस्था को देखा। वियना में उन्होंने आस्ट्रिया के शासनाध्यक्ष कारनर और सरकार के कई मंत्रियों से भेंट और वार्ताएं कीं। अध्यक्ष श्री कारनर का उल्लेख करते हुए उन्होंने अपने एक पत्र में लिखा था कि वह बड़े सरल स्वभाव के हैं। खुले आम बिना पुलिस के घूमते हैं। अपने बंगले से प्रातःकाल कार्यालय चले जाते हैं। दिन में टाउनहाल के भोजनालय में भोजन करते हैं, और शाम को अपने घर लौट आते हैं। शाम का भोजन वह स्वयं पकाते हैं।

वियना के डाक्टर की सलाह पर वह आस्ट्रिया के ही ओवलाडिल स्थान पर जाकर रहे। समुद्र से 4500 फुट की ऊंचाई पर यह एक बहुत ही रमणीक स्थान है। यहां उनके स्वास्थ्य में आशातीत सुधार हुआ और दो सप्ताह के बाद दवा बंद कर दी गई। ओवलाडिस में वह 25 दिन ठहरे। उसके बाद अपने पुराने विद्यार्थी डा. सत्यनारायण के साथ जनीवा गए। कार से यात्रा करते हुए और बीच के कई नगरों और दर्शनीय स्थानों को देखते हुए वह ज़ूरिख और फ्रेंकफर्ट पहुंचे। बर्लिन में वह एक सप्ताह रहे। वहां वह फ्री विश्वविद्यालय और होवोल्ड विश्वविद्यालय गए। बर्लिन में उनकी भेंट जर्मनी के प्रसिद्ध मजदूर नेता शुभाकर से हुई। बर्लिन से वह म्यूनिख और पश्चिमी जर्मनी की राजधानी बॉन गए। वहां उन्होंने जर्मनी के अनेक समाजवादी नेताओं से भेंट की।

इस यात्रा में वह युगोस्लाविया भी गए। वहां वह सरकार के मेहमान हुए। युगोस्लाविया में उन्होंने सरकार के कुछ बड़े मंत्रियों से समाजवादी, राजनीतिक और

लोकतांत्रिक ढांचे पर विस्तार से चर्चा की। वह जिलास से भी भेंट करना चाहते थे। परंतु वहां का शासन उनसे बहुत रुष्ट था और वह उन दिनों जेल में थे। अतः उनसे भेंट की सुविधा न हो सकी। आचार्यजी ने युगोस्लाविया की कम्युनिस्ट सरकार की आर्थिक विकेंद्रीकरण की नीति को पसंद किया और प्रबंध में श्रमिकों की भागीदारी भी उन्हें बहुत पसंद आई। पर उन्होंने देखा कि वहां नागरिक स्वतंत्रता का अभाव है और संसद में बहुदलीय प्रणाली नहीं है।

युगोस्लाविया से लौटकर नरेंद्रदेवजी लंदन आए। यहां वह पुनः बीमार हो गए। उसी दशा में वह भारत की सोशलिस्ट पार्टी के पर्यवेक्षक प्रतिनिधि के रूप में ब्रिटेन की लेबर पार्टी के वार्षिक सम्मेलन में शामिल होने को लीवरपूल गए। पर वहां सम्मेलन में न जा सके। होटल में ही लेबर पार्टी के नेता एटली और अंतर्राष्ट्रीय समाजवादी संघ के प्रधान सचिव मार्गन फिलिप्स से उनकी भेंट हुई। भारत लौटते समय वह रास्ते में कुछ दिन पेरिस और कुछ दिन कैरो रुके। वह इसराइल और लेबनान भी गए।

13. अंतिम यात्रा

यूरोप से लौटने के बाद नरेंद्रदेवजी अपना समय युवा वर्ग के शिक्षण-प्रशिक्षण में लगाना चाहते थे। सोशलिस्ट पार्टी और किसान मजदूर प्रजा पार्टी के विलय से वह बहुत खिन्न थे। वह समझते थे कि इस विलय से सोशलिस्ट पार्टी के मार्क्सवादी आधार को क्षति पहुंची है और इससे सिद्धांतहीनता का मार्ग खुल गया है। वह यह भी देख रहे थे कि न तो देश का शिक्षक और न ही राजनेता युवा वर्ग का मार्गदर्शन करने में समर्थ हुआ है, और युवक रचनात्मक न होकर दिशाहीन होता जा रहा है। प्रश्न था कि शिक्षा केंद्रों का वातावरण कैसे बदला जाए। अध्यापक वर्ग इसका उत्तर दे सकता था, पर वह स्वतः पतनोन्मुख था। आचार्यजी अल्पकालीन प्रशिक्षण शिविरों द्वारा युवकों में रचनात्मक दृष्टि उत्पन्न करना चाहते थे और आशा करते थे कि यही युवक आगे चलकर देश को हर क्षेत्र में नेतृत्व देंगे। पर इस कार्य को नियोजित करने में जिस श्रम, शक्ति और समय की आवश्यकता थी उसे वह अपने दुर्बल स्वास्थ्य के कारण जुटा नहीं पा रहे थे। उनका विचार था कि यदि ठीक मार्गदर्शन किया जाए तो राष्ट्र का निर्माण और समाजवादी लक्ष्य युवा वर्ग को प्रेरित करने में समर्थ है। वह समाजवाद पर दो स्वतंत्र ग्रंथ तैयार करना चाहते थे। इस कार्य में सहयोग करने के लिए उन्होंने काशी विश्वविद्यालय के राजनीतिशास्त्र के पूर्व विभागाध्यक्ष प्रो. मुकुटबिहारी लाल को तैयार भी कर लिया था। एक ग्रंथ समाजवादी सिद्धांत और आंदोलन पर था और दूसरे ग्रंथ में लेखक द्वारा अपने भ्रमण में देखे गए समाजवादी प्रयोगों का विवरण और विवेचन था। बौद्ध धर्म और दर्शन का उनका काम लगभग पूरा हो चुका था। जो कुछ थोड़ा काम उसमें बचा था उसे वह जल्द ही पूरा करने वाले थे। पर उन्हें क्या पता था कि भाग्य उन्हें ऐसी दलदल की ओर ले जाने वाला है जिसमें फंसकर जीवित बाहर निकलना संभव न होगा।

यूरोप से लौटकर उन्होंने देखा कि प्रजा सोशलिस्ट पार्टी का अस्तित्व खतरे में पड़ गया है और वह विखंडन की ओर अग्रसर है। जब पार्टी के अध्यक्ष आचार्य कृपलानी और महामंत्री डा. राममनोहर लोहिया ने अपने पदों से त्यागपत्र दे दिया तो उसकी नाव का खेवनहार कोई नहीं रहा। त्रावणकोर कोचीन में, जहां प्रजा सोशलिस्ट

पार्टी की सरकार थी, पुलिस द्वारा एक उपद्रवी भीड़ पर गोली चलाए जाने पर जो झगड़ा पार्टी में शुरू हुआ उसी का यह परिणाम था। प्रजा सोशलिस्ट पार्टी दो समूहों में बंट गई थी। पार्टी की डूबती नौका को बचाने के लिए नरेंद्रदेवजी ने अपने स्वास्थ्य की अनदेखी कर उसका अध्यक्ष होना स्वीकार कर लिया। समझौते का कोई भी प्रयास सफल नहीं हो सकता था, क्योंकि डा. लोहिया अपनी अलग पार्टी बनाने का निश्चय कर चुके थे। आचार्यजी को शायद यह आशा रही होगी कि उनके प्रयास से डा. लोहिया समझौते के मार्ग पर आ जाएंगे। परंतु यह होना नहीं था। उनकी पार्टी को टूटना ही था, पर उसे बचाने में आचार्यजी होम हो गए।

जो कार्य उन्होंने अपने लिए निश्चित किया था वह इस संघर्ष के कारण खटाई में पड़ गया। अध्यक्ष बनने के बाद उनका अधिकांश समय या तो भ्रमण में बीतता और या अस्पताल तथा स्वास्थ्यवर्धक स्थानों पर। अंत में उनका स्वास्थ्य इतना बिगड़ गया कि अस्पताल ही उनका घर बन गया। मेडिकल कालेज में वह बीच बीच में भरती होते रहे। इसी दशा में प्रो. मुकुटबिहारी लाल की सहायता से प्रजा सोशलिस्ट पार्टी का नीति वक्तव्य तैयार हुआ। नवंबर-दिसंबर 1955 में वह कुछ दिनों के लिए अस्पताल से बाहर रहे। लेकिन जल्द ही उन्हें फिर अस्पातल की शरण लेनी पड़ी। वह इतने असमर्थ हो गए थे कि प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के वार्षिक सम्मेलन में भी उपस्थित न हो सके जिसकी उन्हें अध्यक्षता करनी थी। सम्मेलन समाप्त होने पर अध्यक्ष के नाते उन्हें कई औपचारिकताएं निभानी थीं। नीति वक्तव्य और अन्य प्रस्तावों में जो संशोधन प्रतिनिधियों द्वारा पेश किए गए थे उनमें से अनेक को स्वीकार या अस्वीकार करने का भार अध्यक्ष को दे दिया गया था। पार्टी के और भी अनेक झमेले थे। अब उनका स्वास्थ्य इतना बिगड़ गया था कि कोई दवा काम नहीं कर रही थी। ऐसी दशा देख उनके मित्र डा. संपूर्णानंद ने अस्पताल के डाक्टरों से परामर्श कर श्रीप्रकाशजी से संपर्क किया। तब स्वास्थ्य लाभ के लिए उन्हें तमिलनाडु के परेंदुरई स्थान पर ले जाया गया। यह उनकी अंतिम यात्रा सिद्ध हुई। श्रीप्रकाशजी ने अपने एक लेख द्वारा इस संबंध में विस्तृत जानकारी हमें दी है, जो निम्नांकित है:

"1955-56 की सर्दी में वे गंभीर रूप से बीमार थे। उन दिनों मैं मद्रास का राज्यपाल था। अपनी लखनऊ की यात्रा के दौरान मैंने देखा कि वे बुरी तरह पीड़ित हैं। मैंने गंभीर होकर उन्हें दक्षिण भारत मद्रास आने का आमंत्रण दिया, क्योंकि वहां मौसम अपेक्षाकृत अनुकूल था और मेरी समझ में उन्हें वहां अपेक्षाकृत अधिक आराम मिल सकता था। कृपा कर उन्होंने मेरा आमंत्रण स्वीकार कर लिया और 1956 की जनवरी के प्रारंभ में वे मद्रास पहुंच गए। श्री संपूर्णानंद ने, जो उन दिनों उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री थे, उनकी सुविधा के लिए एक सरकारी विमान की व्यवस्था कर दी

थी। वे पत्नी तथा अपने प्रिय मित्र श्री रामधर मिश्र के साथ मद्रास आए। मैंने हवाई अड्डे पर अगवानी की और उन्हें राजभवन लाया। नरेंद्रदेव को सभी इतना चाहते थे कि राजनीतिक मतभेदों को दूर रखकर सभी उनके लिए अच्छी से अच्छी व्यवस्था करने को व्यग्र रहते थे। जब मैंने अपने मित्र मद्रास के तत्कालीन वित्त एवं शिक्षा मंत्री श्री सी. सुब्रमण्यम को बताया कि मैंने नरेंद्रदेवजी को आमंत्रित किया है और उनकी यात्रा का उद्देश्य भी बताया तो उन्होंने मौसम कार्यालय से सूचना लेकर राज्य के कई स्थानों के पिछले सौ वर्षों के तापमान तथा मौसम का अध्ययन किया और मुझे बताया कि कोयंबटूर नगर से लगभग 60 मील दूर स्थित परेंदुरई नामक स्थान नरेंद्रदेवजी के लिए सर्वथा अनुकूल रहेगा। वहां उनके लिए एक सरकारी डाक बंगला आरक्षित कर दिया गया और मैं उन्हें और उनके साथ के लोगों को वहां लेकर गया। एक-दो दिन वहां ठहरने के बाद मैं अपना कार्य देखने मद्रास वापस आ गया। फिर भी, मैं अकसर नरेंद्रदेवजी को देखने उनके इस विश्राम स्थल पर जाता रहा और मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि उनका स्वास्थ्य सुधर रहा है। उनकी पत्नी तथा मित्र भी प्रसन्न थे। नरेंद्रदेवजी ने एक दिन मुझे कहा कि यह जगह तो मेरे स्वास्थ्य के लिए आश्चर्यजनक रूप से अनुकूल है और प्रति वर्ष यहां आऊंगा। मैंने उनसे कहा कि अवश्य, आपका स्वागत है। आसपास के सारे लोग उन्हें चाहने और प्यार करने लगे थे, केवल उन्हीं के कारण। हर कोई उन्हें हर तरह की सहायता और सद्‌भाव देने को तैयार रहता था।

"वहां एक छोटा-सा अस्पताल था। अस्पताल के डाक्टर उनको इतना चाहने लगे थे कि वे हमेशा उनकी देखभाल में रहते थे। उन लोगों ने अपने अस्पताल के नए खंड का उद्‌घाटन उनकी पत्नी से कराया। वे लोग यह सब इसलिए नहीं करते थे कि नरेंद्रदेवजी राज्यपाल के मित्र या मेहमान थे, वास्तव में वे स्वतः अपनी प्रेरणा से यह सब करते थे। कई सप्ताह बीत गए और नरेंद्रदेवजी में अनुकूल परिवर्तन देखकर हम सब प्रसन्न थे। तभी फरवरी के मध्य में एकाएक झटका लगा। उन दिनों मैं समीप के जिले त्रिचनापल्ली या नए नाम के अनुसार तिरूचिरापल्ली के दौरे पर था। वहां मुझे उनके प्रिय मित्र श्री रामधर मिश्र का, जो लगातार उनकी सेवासुश्रूषा में लगे थे, पत्र मिला कि नरेंद्रदेव की हालत ठीक नहीं है और कोई भी दवा उनको लाभ नहीं कर रही है।

"मैंने अपने दौरे को बीच में ही छोड़ा और कार से सौ मील की यात्रा करके मैं नरेंद्रदेवजी के पास पहुंचा। वहां मैंने उन्हें बहुत बुरी हालत में पाया। उन्हें आक्सीजन दी जा रही थी और उनकी पत्नी उनके तलवे मल रही थी। मैं धक रह गया। डाक्टरों ने बताया कि उन्हें कहीं और ले जाना चाहिए। मैं पूर्वाह्न में पहुंचा था।

दोपहर के बाद हम लोग बीस मील दूर स्थित इरोड कस्बे में पहुंचे, जो उसी कोयंबटूर जिले में है। कार में उनकी पत्नी और उनके साथ यात्रा करते हुए मुझे लगा कि वे समुचित रूप से प्रफुल्ल हैं। हमने कुछ हास-परिहास भी किया। इरोड में उनके लिए एक निरीक्षण गृह तुरंत सुरक्षित कर दिया गया। हम लोग उन्हें एक कमरे में ले गए और पंखे से थोड़ी दूर एक बिस्तर पर लिटा दिया। उन्होंने तेजी से हांफते हुए केवल इतना कहा, 'यह क्या है, मुझे पहले ऐसा कभी नहीं महसूस हुआ?' ये उनके अंतिम शब्द थे। डाक्टर इंजेक्शन देने के लिए दौड़े, लेकिन वे दूर जा चुके थे। डाक्टरों ने अत्यंत ही दुखी होकर मुझे बताया कि सब कुछ समाप्त हो गया है। यह 19 फरवरी 1956 को शाम लगभग छह बजे की बात है।

"उनकी दुखी पत्नी की हालत का अनुमान ही किया जा सकता है। मुझे सारी शक्ति संजोकर स्वयं को सतुलित करने के साथ साथ उन्हें भी सांत्वना पहुंचाने का काम करना पड़ रहा था। जिले के कलकटर वहां उपस्थित थे। सौभाग्यवश उनके साथ वायरलेस सेट था, जिससे संदेश भिजवाए जा सकते थे। मैंने तुरंत राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, उत्तर प्रदेश के राज्यपाल और मुख्यमंत्री और मद्रास के मुख्यमंत्री तथा वाराणसी में अपने पिताजी को सूचित किया कि नरेंद्रदेवजी नहीं रहे। जल्द ही शोक संवेदना के तारों की झड़ी-सी लग गई। पहला तार राष्ट्रपति डा. राजेंद्र प्रसाद का था। सांसारिक दायित्व इतने अनिवार्य हैं कि महानतम दुख की घड़ियों में भी अविचलित रहकर उन्हें पूरा करना पड़ता है।

"अब प्रश्न था कि शव का अंतिम संस्कार कैसे किया जाए। हम लोग स्वाभाविक रूप से समझते थे कि शव को लखनऊ ले जाना चाहिए। वहां उनके पुत्र, परिवार के अन्य सदस्य और उनके असंख्य मित्र रहते हैं, जो मुझे कभी क्षमा न करते यदि उनका अंतिम संस्कार उस दूरस्थ स्थान पर किया जाता जहां उनकी मृत्यु हुई थी। थोड़ी दूर पर स्थित एक कारखाने में टेलीफोन था। मैं वहां गया और प्रबंधकों के सहयोग से प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू से संपर्क कर पाया। मैंने उन्हें अपनी परेशानी से अवगत कराया और पूछा कि क्या आप शव को भिजवाने के लिए विमान का प्रबंध करा सकते हैं। जो घटित हुआ था उससे वे भी स्वाभाविक रूप से दुखी थे। उन्होंने कहा कि मैं तदर्थ विमान की तलाश करवाता हूं और यदि भारत में कहीं भी उपलब्ध हुआ तो भिजवा दूंगा। उन्होंने कहा कि एक घंटे के अंदर आपको अगली सूचना मिलेगी। तत्कालीन केंद्रीय रक्षा राज्यमंत्री भी इस प्रबंध में लग गए। एक घंटे के अंदर ही जवाहरलाल का दूसरा संदेश मिला कि विमान उपलब्ध हो गया है और वह भोर तक कोयंबटूर पहुंच जाएगा। मेरे और अन्य सभी के लिए यह काफी राहत देने वाली बात थी।

सारी रात नरेंद्रदेवजी का शरीर खाट पर पड़ा रहा, और दुख से विह्वल पत्नी

खाट की बगल में बैठी जागती रही। कलेक्टर श्री नांबियार इतने विचलित थे कि वे कमरे से लगे बरामदे में बिना एक पल सोए, सारी रात घूमते रहे। मैं दूसरे कमरे में लेटा हुआ अपने दुख को पीता रहा। मुझे वास्तव में यह आभास नहीं था कि दूरस्थ स्थान में भी नरेंद्रदेवजी इतने प्रसिद्ध होंगे। उनकी मृत्यु का समाचार कस्बे में फैल गया था और सारी रात उस दिवंगत महान आत्मा को श्रद्धांजलि देने वालों का तांता लगा रहा। भोर हुई, और शव के साथ हम लोग पचास मील की दूरी तय करके कोयंबटूर गए। ऐसे दुखद अवसर के लिए नियत विमान आया। हमने शव को विमान के तल पर श्रद्धापूर्वक रखा और निर्धारित पट्टिकाओं से कस दिया। केवल उनकी पत्नी और श्री रामधर मिश्र विमान में बैठे। मैंने आंध्र प्रदेश के राज्यपाल और मुख्यमंत्री को तार भेज दिया था कि शव को ले जा रहे विमान को वे हैदराबाद में देख लें। मैंने लखनऊ भी राज्यपाल और मुख्यमंत्री को सूचित कर दिया था कि विमान के शाम तक पहुंचने की उम्मीद है। मुझे बताया गया कि दिवंगत आत्मा को श्रद्धांजलि देने के लिए हैदराबाद में काफी बड़ी संख्या में लोग विमान के पास एकत्र थे, और हवाई अड्डे पर तो भीड़ बेकाबू हो गई थी। शव को नरेंद्रदेवजी के लखनऊ निवास पर ले जाया गया, और बाद में उनके ज्येष्ठ पुत्र ने विधिवत चिता में अग्नि प्रज्ज्वलित की। जिस स्थान पर उनकी चिता जलाई गई थी, उसे आज एक स्मारक का रूप दिया गया है। इस तरह एक महान और यशस्वी मानव का अंत हुआ, जो अपने मित्रों और अनुयायियों को बड़ी संख्या को शोकाकुल छोड़ गया।"[1]

परेंदुरई उनके स्वास्थ्य के लिए बहुत लाभप्रद सिद्ध हुआ। मिलने वालों की भीड़ नहीं रही। परंतु उनकी चिताएं उनके साथ लगी रहीं। बौद्ध धर्म-दर्शन की पांडुलिपि तैयार हो गई थी। फिर भी वह, पाठकों की सुविधा और सुग्राह्यता की दृष्टि से उसमें प्रायः "एक हजार शब्दों का शब्दकोश जोड़ना चाहते थे। वह काम परेंदुरई के विश्राम स्थल में भी कर रहे थे, और चार सौ शब्दों का अर्थ लिख चुके थे। फ़रवरी के पहले सप्ताह में वह नई स्फूर्ति का अनुभव कर रहे थे। 8 फरवरी को एक समाचार एजेंसी का संवाददाता उनसे साक्षात्कार के लिए परेंदुरई पहुंचा। उस समय पृथक महाराष्ट्र राज्य और उसमें मुंबई को शामिल करने के लिए विशेषकर मुंबई में आंदोलन ने मारकाट और आगजनी का भयंकर रूप ले लिया था। इससे आचार्यजी बहुत चिंतित और व्यग्र थे। उस संवाददाता के साथ उन्होंने प्रायः एक घंटे तक भावावेश में बातें कीं। फरवरी महीने की 11 और 12 को प्रजा सोशलिस्ट पार्टी की राष्ट्रीय कार्यसमिति की बैठकें परेंदुरई से दूर कोयंबटूर में हुई। आचार्यजी

---

1. *आचार्य नरेंद्रदेव बर्थ सेंटेनरी वाल्यूम*, संपादक – प्रेम भसीन, मधु लिमये, हरिदेव शर्मा एवं विनोदप्रसाद सिंह, रेडियेंट पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1990, पृ. 44.

से उनमें रहने की अपेक्षा नहीं की गई थी। लेकिन 13 फरवरी को उसका अंतिम अधिवेशन परेंदुरई में आचार्यजी के आवास पर किया गया। इसमें आचार्यजी ने अनपेक्षित रूप से प्राय 50 मिनट तक भाषावार राज्यों के गठन की समस्या पर अपनी आदत के अनुसार उच्च स्वर में भाषण किया। हर 15 मिनट पर वह दवा सूंघ रहे थे। यहां उन्हें 3 महीने के लिए अपने पदभार से मुक्त किया गया और बाबू गंगाशरण सिंह को अंतरिमकालीन अध्यक्ष बनाया गया। उस दिन शाम को उन्होंने गंगाशरणसिंहजी से देर तक विचार-विमर्श किया। इस सबका परिणाम यह हुआ कि उन्हें दमे का दौरा पड़ गया। इस दौरे के चलते ही उन्होंने जयप्रकाश नारायण को पत्र लिखा और उनसे राज्यों के पुनर्गठन के बारे में प्रधानमंत्री से मिलने का निवेदन किया। उसी अवस्था में उन्होंने उत्तर प्रदेश की विधानसभा के अपने सदस्यों को राज्यसभा के चुनाव में पंडित हृदयनाथ कुंजरू के पक्ष में मत देने की अपील जारी की।

डा. रामधन मिश्र अपने संस्मरणात्मक लेख में बताते हैं कि वह डा. राममनोहर लोहिया को बहुत प्यार करते थे और इस बात का उन्हें बहुत दुख था कि उनके विरुद्ध उन्हें अनुशासनभंग की कार्रवाई करनी पड़ी। वह उनके निष्कासन के विरुद्ध नहीं थे। लेकिन कहते थे कि बहुमत का निर्णय मानना भी आवश्यक था।[1] जो भी हो, वह डा. लोहिया के अलग हो जाने से दुखी थे। वह चाहते थे कि बिछड़े लोग फिर मिल जाएं और डा. लोहिया भारत में समाजवादी शक्तियों का नेतृत्व करें। शायद उन्हें यह भय था कि समाजवादी शक्ति के दुर्बल पड़ जाने पर विरोध पक्ष का स्थान कम्युनिस्ट या सांप्रदायिक शक्तियों के हाथ में चला जाएगा और वह स्थिति भारत और उसके लोकतंत्र के लिए अशुभ होगी।

---

1. *आचार्य नरेंद्रदेव बर्थ सेंटेनरी वाल्यूम,* आचार्य नरेंद्रदेव – एज आई सा हिम, पृ. 180.

जीवनवृत्त : एक दृष्टि में

जन्म	:	31 अक्तूबर 1989, सीतापुर (उत्तर प्रदेश)
पैत्रिक नगर	:	फैजाबाद (उत्तर प्रदेश)
पिता	:	बलदेव प्रसाद, वकील
पूर्वज	:	स्यालकोट, पश्चिमी पंजाब
निधन	:	19 फरवरी 1956 (इरोड, तमिलनाडु)
शिक्षा	:	प्राथमिक एवं माध्यमिक – फैजाबाद, 1906 उच्च माध्यमिक (इंटर) और स्नातकीय – म्योर कालेज, इलाहाबाद – 1906–1911 स्नातकोत्तर एम.ए. संस्कृत – क्वींस कालेज, वाराणसी, 1913, वकालत – इलाहाबाद, 1915
वकालत	:	फैजाबाद – 1915–1921

राजनीति एवं स्वतंत्रता आंदोलन

स्वदेशी व्रत – 1907

होम रूल लीग (फैजाबाद जनपद), मंत्री – 1916

सदस्य, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी – 1918

वकालत का त्याग और असहयोग आंदोलन – 1921

अध्यक्ष, पूर्व स्थापना सम्मेलन, कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी, मई, 1934

अध्यक्ष, राष्ट्रीय कार्यसमिति, कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी, अक्तूबर 1934

अध्यक्षीय भाषण, गुजरात कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी प्रांतीय सम्मेलन – 1934

सदस्य, अखिल भारतीय कांग्रेस कार्यसमिति – 1936

निदेशक, अखिल भारतीय समाजवादी कार्यकर्ता शिविर (लखनऊ) – 1939

अध्यक्ष, उत्तर प्रदेश प्रांतीय राजनीति सम्मेलन – 1936

अध्यक्ष, कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी तथा प्रजा सोशलिस्ट पार्टी – 1949, 1954, 1955

अध्यक्ष, भारतीय किसान सभा – 1939, 1942
त्यागपत्र, विधान सभा, उत्तर प्रदेश – 1948
सदस्य विधान सभा, उत्तर प्रदेश – 1937–39, 1946–48
सदस्य, राज्यसभा – 1952–56

शिक्षा, साहित्य एवं संस्कृति

अध्यापक, काशी विद्यापीठ – 1921–26
प्राचार्य, काशी विद्यापीठ – 1926–46
कुलाधिपति, काशी विद्यापीठ – 1946–56
कुलपति, लखनऊ विश्वविद्यालय – 1947–52
कुलपति, काशी हिंदू विश्वविद्यालय – 1952–54
अध्यक्ष, वाराणसी समाजविज्ञान परिषद – 1947–56
अध्यक्ष, नागरी प्रचारिणी सभा – 1950
अध्यक्ष, अखिल भारतीय संस्कृत परिषद – 1951
अध्यक्ष, माध्यमिक शिक्षा सुधार समिति, उत्तर प्रदेश सरकार – 1930
अध्यक्षीय भाषण, समाज विज्ञान परिषद, हिंदी साहित्य सम्मेलन – 1939
अध्यक्षीय भाषण, हीरक जयंती उत्सव, नागरी प्रचारिणी सभा – 1955
अध्यक्षीय भाषण, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद – 1954

रचनाएं

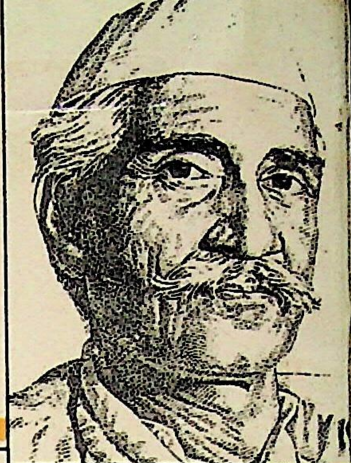
सोशलिज्म एंड द नेशनल रेवोल्यूशन, पदमा पब्लिकेशंस, मुंबई – 1946
राष्ट्रीयता और समाजवाद, ज्ञानमंडल, वाराणसी – 1949
बौद्ध-धर्म-दर्शन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना – 1956
अभिधर्मकोश (अनुवाद), हिंदुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद – 1970

संपादन

विद्यापीठ पत्रिका, काशी विद्यापीठ, वाराणसी – 1925–29
संघर्ष, साप्ताहिक, लखनऊ – 1937–56
जनवाणी, मासिक, वाराणसी – 1947–52
समाज, त्रैमासिक, वाराणसी – 1955–56

अनुक्रमणिका

शिवम् ऑफसैट प्रेस, ए-12/1, नरायणा इंडस्ट्रियल एरिया, फेज-I, नई दिल्ली 110 028 द्वारा मुद्रित



आचार्य नरेंद्रदेव (31.10.1889–19.02.1956) विलक्षण प्रतिभा और व्यक्तित्व के धनी थे। देश की पराधीनता उन्हें स्वतंत्रता संघर्ष में खींच लाई और दरिद्रों की दरिद्रता ने उन्हें समाजवादी बना दिया। अध्यापक के रूप में वह उच्चकोटि के निष्ठावान अध्यापक और शिक्षाविदों में महान शिक्षाविद् थे। भारत के पुनर्निर्माण के साधनों और मार्ग के बारे में गांधी से अधिक नेहरू से मेल खाने वाला उनका चिंतन औद्योगिक सभ्यता का समर्थक था। काशी विद्यापीठ के आचार्य (प्रिंसिपल) बनने के बाद से यह उपाधि उनके नाम का ही अंग बन गई। शिक्षा के माध्यम से ही राष्ट्र के तरुणों में प्रजातांत्रिक पद्धति की आदतें डालने के पक्षधर नरेंद्रदेव जी की यह जीवनी स्वयं में प्रेरणा का स्रोत है।

सत्यप्रकाश मित्तल (1921) एक स्वतंत्रता सेनानी हैं, जो 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन में दो बार जेल गए। उसी दौरान एक वर्ष का भूमिगत जीवन भी बिताया। सन् 1947 से 1962 तक किसान संगठन, श्रमिक संगठन और सोशलिस्ट आंदोलन में सक्रिय भागीदारी निभाई। निर्मल कुमार बोस प्रतिष्ठान में आठ वर्षों तक मंत्री तथा आचार्य नरेंद्रदेव समाजवादी संस्थान में 12 वर्षों तक प्रधानमंत्री के पद पर कार्यरत रहे। लेखक की कई पुस्तकें तथा विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में दो दर्जन से अधिक शोधात्मक एवं विचारात्मक लेख प्रकाशित हो चुके हैं।



रु. 40.00

ISBN 81-237-3582-0

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया